Hira Lal Thakur
BARAH P.O. MOHAL
KULLU-175126 H.P.

विपाशा

हिमाचल प्रदेश के भाषा एवं संस्कृति विभाग की द्वैमासिक पत्रिका

मुखपृष्ठ : ए. वीणा
आवरण संयोजन : सुरजीत
ऊपर का चित्र : कौमुदी रागिनी (राज्य संग्रहालय, शिमला)
पारदर्शी : हाकम शर्मा

tharahkardu.in

विपाशा

साहित्य, संस्कृति एवं कला की द्वैमासिकी
वर्ष-7, अंक-37, मार्च - अप्रैल, 1991

मुख्य संपादक
सी०आर०बी०ललित
निदेशक, भाषा एवं संस्कृति, हि० प्र०

संपादक
तुलसी रमण

संपर्क : संपादक-विपाशा, भाषा एवं संस्कृति विभाग, हि० प्र०
त्रिशूल, शिमला-171003 दूरभाष : 3669, 6846, 4614

वार्षिक शुल्क : दस रुपये, एक प्रति : दो रुपये

क्रम

3 पाठकीय
5 संपादकीय

व्याख्यान एवं लेख

7 भाषा, कला और औपनिवेशिक मानस : सच्चिदानन्द वात्स्यायन
18 मानवाधिकारों के प्रति भारतीय दृष्टिकोण : आचार्य शालिग्राम शर्मा
24 सातवें दशक की हिंदी कविता में जीवन-मूल्य अजित कुमार
30 यशपाल की रचना-दृष्टि : डॉ० उषा चौहान

कहानी

36 कालू : श्रीनिवास जोशी

देशांतर

43 चीज़ें (रोमानियन कहानी) : कांस्टेंटिन तोइयू

कविता

46 दस कविताएँ : जितेंद्र कुमार
52 दो कविताएँ : वरयाम सिंह

भाषांतर

55 चार कविताएँ (तमिल) : डॉ० वी० सी० कुलंदैस्वामी

समीक्षा

58 आती है जैसे मृत्यु : कुंदन माली
63 यथार्थ और लय का गीतात्मक सहकार : ओम निश्चल

लोक संस्कृति

67 शिमला जनपद के लोक नाट्य : डॉ० हरिराम जसटा

आयोजन

82 धनबाद में हिंदी साहित्य सम्मेलन : मदन हिमाचली
84 नाहन का आर्ट-क्राफ्ट मेला : संतोष उत्सुक
87 लोक की वापसी, जीवन संघर्ष से जुड़ी कला : नंदगोपाल
90 छाया-चित्रों के माध्यम से हिमालय दर्शन : हेमकांत कात्यायन
91 बिहार और हिमाचल का सांस्कृतिक आदान प्रदान : डॉ० हेमप्रभा शर्मा
94 किन्नौर के मंदिर : हिमकुमार चटर्जी
96 आवरण के चित्र/उपहार चित्र

रचनाओं में व्यक्त विचार लेखकों के अपने हैं, इनमें संपाकीय सहमति आवश्यक नहीं।

पाठकीय

सुरेश कुमार, नेताजी नगर, नई दिल्ली

विपाशा का अंक-35 काफी विलम्ब से मिला, लेकिन ओक्तावियों पॉज की कविताओं, नंदकिशोर आचार्य के रंगमंच विषयक लेख और योगेश्वर शर्मा की कहानी जैसी सामग्री के कारण यह अंक संग्रहणीय बन पड़ा है। विदेशी लेखकों के नामों तथा उनकी कृतियों को हिंदी में भेद के साथ लिखा जाता रहा है। ओक्तावियो पाज़ का नाम भी अब तक कई तरह से लिखा मिलता है। ओक्तावियो पाज़ ही सही उच्चारण के अधिक करीब है। आपने तीन अनुवादकों द्वारा अनूदित ओक्तावियो की कुल आठ कविताएं दी हैं। श्री प्रयाग शुक्ल एक सिद्धहस्त अनुवायक हैं। उनके अनुवाद और चयन अंक की उपलब्धि है। श्री विनोद शर्मा के अनुवाद भी बहुत अच्छे हैं और इनका मुद्रण भी यथोचित हुआ है। विनोद जी की कवि को लेकर संक्षिप्त टिप्पणी भी सारगर्भित, परिचयात्मक है।

'हिंदी रंगमंच : परिस्थिति और दायित्व' शीर्षक श्री नंदकिशोर आचार्य का लेख एक आलोचक की भाषा में विचार संपन्न है। रंगमंच को लेकर इधर वैसे ही बहुत कम लिखा जा रहा है और जो लिखा जाता है वह मंचन का लेखन सम्बन्धी एक पक्षीय होकर एकांगी हो जाता है लेखक ने संतुलन बनाया है।

श्री योगेश्वर शर्मा की कहानी 'अधमूंडिया राक्षस' पहले शीर्षक से कोई रहस्य रोमांस की कहानी लगी, लेकिन पढ़ने पर इस कहानी ने प्रभावित किया। लेखक ने समयकालीन परिस्थितियों का रचना में सदुपयोग किया है। श्री प्रेम पखरोलवी का लेख पढ़े हुए, यानी काफी कुछ बासे को पुनः प्रस्तुत करने जैसा है और यह शैली भी पुरानी है।

ऋषि शांडिल, सोलन, हि० प्र०

विशाशा में ओक्तावियो पाज़ की कविताएं पढ़ने को मिलीं। जब वे भारत में राजदूत थे तो उनकी रचनाओं के अनुवाद कई पत्रिकाओं में पढ़ता रहा हूं। उन्होंने भारतीय विषयों जैसे ऐतिहासिक स्थानों आदि को लेकर भी कविताएं लिखी हैं। हिमाचल शीर्षक से इनकी दो कविलाएं आपने प्रकाशित की हैं और तीसरी कविता पहले प्रकाशित होने की सूचना संपादकीय में है। निःसंदेह पाज़ ने ये कविताएं अपने हिमाचल प्रवास के दौरान लिखी हैं—

"एक नन्हीं लड़की और एक बूढ़ी औरत/दोनों हड़ीली/ढोती हुई बोझा/भारी इन पहाड़ों से।"

"और चीड़ के सूखे कांटों पर आगे बढ़ने की इसकी पादुकाओं की जोरदार कोशिश।"

"हिमालय/—तृतीय महाकल्प का अंत/दुनिया का तरुणतम पर्वत।"

हिमाचल की भूमि को लेकर विश्व के एक प्रख्यात कवि की ये पंक्तियां हिंदी के पाठकों तक पहुंचाने के लिए बधाई।

इसी अंक में मियां गोवर्धन सिंह का हिमाचल के इतिहास को लेकर एक महत्वपूर्ण लेख भी पढ़ने को मिला।

हितेन्द्र कुमार, चंडीगढ़

अंक 35 में केवल दो कवियों की कविताएं हैं, और दोनों विपाशा के पाठकों के लिए नये हैं। शंभु गुप्त की 'अंधेरा' और 'खोटग्रस्त बच्चा' अच्छी लगी और ईना कंवर की 'जलाशय का चेहरा' में 'कमल-कमल फैलती कंपन' और 'अपना एकांत' में 'जुगनुओं-सी छिटकी बत्तियां' जैसे बिम्ब सुंदर बन पड़े हैं।

चित्रा मुद्गल की पुस्तक समीक्षा मृदुला गर्ग ने की है और इधर अक्सर देखा जा रहा है कि महिलाओं की पुस्तकों की समीक्षा महिलाएं ही ज्यादा कर रही हैं। क्या हिंदी जगत् में महिला लेखन या महिला साहित्य का चूल्हा अलग ही जलेगा? यह इसी संदर्भ में नहीं सामान्य तौर पर कह रहा हूं।

कविता की दुरुहता को लेकर श्री मुकुटधर पाण्डेय का यह कथन उचित है कि कवियों को क्लिष्टता और अस्टप्टता से बचना चाहिए और पाठकों को भी अपनी योग्यता बढ़ानी होगी। पाठक को ही कवि का अनुकरण करना चाहिए तभी समझ भी विकसित हो सकेगी। पाण्डेय जी का यह कथन तो सही है कि मनुष्य की मानसिक क्षुधा को नारेबाज़ी से तृप्त नहीं किया जा सकता लेकिन क्या मार्क्सवाद में सिर्फ नारेबाज़ी ही है? यह सवाल उनसे किया जा सकता है। आध्यात्मिक चेतना और सत्य की खोज ये तो संन्यास की ओर संकेत मालूम पड़ते हैं।

सविता गुप्ता, देहरादून उ० प्र०

विपाशा के आवरण में चंबा की पनघट शिलाओं के चित्र बहुत आकर्षक लगे। मैदानों में कुओं का अपना वातावरण होता था और पहाड़ों में पानी के नालू का अपना ही ठाठ रहता है। लेकिन अब दोनों जगह नलकों का प्रचलन हो रहा है और इसी के साथ पनघटों का अस्तित्व ही खत्म हो रहा है। पनघट-शिलाओं की कलात्मकता को देखकर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि शिल्पियों ने एक-एक पत्थर को कितने श्रम और साधना से गढ़ा होगा। इसके पीछे कितनी आस्था रही होगी। पनघटों को सजाने की इस परंपरा के कई पहलू हैं लेकिन यह हमारी लोक संस्कृति की समृद्धि के परिचायक ही हैं।

किन्नौर के मंदिरों का रेखांकन सहित परिचय भी अच्छा लगा लेकिन यह परिचय बहुत संक्षिप्त है। फिर भी सभी मंदिरों के परिचय को मिलाकर वहां के वास्तुशिल्प का रूप उभरकर सामने आ सकेगा।

संपादकीय

पीढ़ियों का आकर्षण

"वे अज्ञेय नहीं—एक अमिट अजंता हैं। अज्ञेय चले गये परंतु उनकी उत्कीर्ण अक्षय अजंता हमारे पास है—जिसकी रेखाओं, रंगों, आकृतियों, छवियों, भंगिमाओं और उनमें निहित विचारों और अर्थों के सौंदर्य की खोज के लिए हर सदी के शब्दकार को लौटाना पड़ेगा।"—कथाकार कमलेश्वर के इन शब्दों का आधार और तर्क स्वयं अज्ञेय द्वारा उत्कीर्ण अजंता ही है। आधुनिक हिंदी-साहित्य की प्रवाहमान नदी के बहुत ही आकर्षक द्वीप—अज्ञेय ने भारतीय मानस को समग्रता में ग्रहण और अभिव्यक्त किया है। बहुआयामी सृजन प्रतिभा के बल पर निर्मित हुआ उनका यह द्वीप भारतीय, विशेष रूप से हिंदी-साहित्य साधना के संदर्भ में, आने वाली पीढ़ियों को बराबर आकर्षित करता रहेगा। अज्ञेय ने 7 मार्च, 1911 को जन्म लिया था और 9 मार्च, 1987 को वे हमारे बीच से चल दिये थे। उनके जन्म और मृत्यु का मास, यही 'नई ऋतु का मास' मार्च रहा। अब यही उनकी स्मृति का मास भी बन गया है।

7 मार्च, 1991 को कामता सेवा केंद्र, देव औरंगाबाद (बिहार) में अज्ञेय जी की प्रतिमा की स्थापना की गई। अज्ञेय जी के निकट संपर्क में रहे श्री शंकरदयाल सिंह के संयोजन में डॉ० लक्ष्मीमल्ल सिंघवी ने प्रतिमा का अनावरण किया। इस अवसर पर 'एक यायावर की याद' शीर्षक स्मारिका भी प्रकाशित की गई है। इस अंक में प्रकाशित व्याख्यान—'भाषा, कला और औपनिवेशिक मानस' इस स्मारिका में से लिया गया है। यह व्याख्यान अज्ञेय जी ने अशोक विचार मंच, पटना के तत्वावधान में अगस्त, 1982 में आयोजित 'रायकृष्णदास स्मारक व्याख्यान माला' में दिया था। विपाशा के पाठकों के लिए यह पठनीय और उपयोगी होगा।

सितंबर 1989 में 'वत्सल निधि' द्वारा शिमला में 'लेखक शिविर' का आयोजन किया गया था, जिसका विषय था—साहित्य, संस्कृति और मानवाधिकार। आचार्य शालिग्राम शर्मा हिमाचल प्रदेश के एक प्रतिष्ठित संस्कृत विद्वान और दर्शन शास्त्र के ज्ञाता हैं। उन्होंने इस शिविर में भाग लेते हुए एक तरह से भारतीय प्राच्य चिंतन का प्रतिनिधित्व किया। पाश्चात्य दर्शन से प्रभावित लोगों को जहां इनकी बातें आधुनिक सोच से कहीं पीछे छूटती लगीं, वहीं वह भारतीय प्राच्य विद्याओं के अधिकारी विद्वान के रूप में शिविर में अलग आकर्षण बने रहे। कुछ लोगों का आग्रह था कि आचार्य जी से 'मानवधिकारों के प्रति भारतीय दृष्टिकोण' को लेकर अलग से लिखवाया जाए। इसी के फलस्वरूप आचार्य जी द्वारा लिखित उक्त शीर्षक लेख भी इस अंक में सम्मिलित है। कवि-समीक्षक श्री अजित कुमार के लेख में सातवें दशक की हिंदी कविता में जीवन मूल्यों की तलाश है और उषा चौहान के लेख में यशपाल के प्रकाशित संदर्भों के माध्यम से उनकी रचना-दृष्टि को रेखांकित करने का प्रयास है।

हिंदी के समकालीन महत्त्वपूर्ण कवियों में जितेंद्र कुमार का नाम इधर, उभर कर सामने आया है। उनकी दस कविताओं के साथ, भाषांतर में पहली बार कुछ तमिल कविताओं के अनुवाद दिये गये हैं।

हिमाचल प्रदेश के लोक-नाट्यों पर विवेचनात्मक लेख श्रृंखला गत अंकों से चली आ रही है। इससे पहले अंकों में मंडी, कांगड़ा तथा कुल्लू के लोक-नाट्यों का विश्लेषण आप पढ़ चुके हैं। इस अंक में डॉ० हरिराम जसटा का लम्बा लेख शिमला जनपद के लोक-नाट्यों को लेकर है।

इस बीच अनेक साहित्यिक-सांस्कृतिक गतिविधियां हुई हैं। इन आयोजनों के विवरण भी इस अंक में शामिल हैं।

भाषा, कला और औपनिवेशिक मानस

□ सच्चिदानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय'

अब मैं यह तो नहीं कह सकता कि व्याख्यान देने का मेरा अभ्यास नहीं है क्योंकि पिछले कुछ वर्षों में व्याख्यान देने के मामले में मार-मार कर हकीम बनाने वाली प्रक्रिया मेरे साथ होती रही है, यह कदाचित् आप में से भी बहुत से लोग जानते होंगे। इस प्रक्रिया से बना हुआ हकीम कैसा होता है इसका मुझे कोई अनुभव नहीं है। वक्ता कैसा होता है वह आप देख ही लेंगे : अपनी ओर से कहूं कि वह बहुत आत्मविश्वासी नहीं होता। आत्मविश्वास की कमी कभी-कभी दुराग्रह का जामा ओढ़ ले सकती है जरूर, लेकिन उससे बात बहुत बदलती नहीं है। यही आशा कर सकता हूं कि वक्ता बनाये जाने से भी पहले मेरा अभ्यास क्योंकि स्वयं अपने से भी प्रश्न पूछते रहने का ही रहा है, इसलिए आपके समक्ष जो कुछ निवेदन करूंगा उसमें आग्रह का प्रयत्न न करके अपनी जिज्ञासाओं का साझा करने का और आपमें स्वतंत्र जिज्ञासा जाग्रत करने का प्रयत्न मेरा होगा।

अभी कुछ दिन पहले विदेश में एक सम्मेलन में भाग लेने के लिए भेजा गया था। उस सम्मेलन का कोई सम्बंध प्रस्तुत विषय से नहीं था, लेकिन और भी जो लेखक उसके लिए जुटे थे उनमें से कुछ के साथ अनौपचारिक बातचीत के दौरान एक प्रश्न उठा कि समुन्नत पश्चिम और तीसरी दुनिया के देशों के लोगों के बीच आदान-प्रदान कैसा होना चाहिए। आदान-प्रदान की बात सरकारों के व्यवहार से अलग रख कर सोची जा रही थी निहित रूप से यह मान लिया गया था कि लेखकों का ऐसे आदान-प्रदान के बारे में विचार करना सार्थक होगा।

मैं बातचीत चुपचाप सुन रहा था, कुछ बोला नहीं था। अंग्रेजी के अलावा फ्रेंच और जर्मन का भी योग बीच-बीच में हो जाता था—ये तीनों भाषाएँ तो लगभग सभी समझ लेते थे। कभी-कभार एक-आध वाक्य दूसरी किसी भाषा का भी स्वगत रूप से सुनाई पड़ जाता था।

कुछ देर बाद मेरी चुप्पी लक्ष्य कर ली गयी और किसी ने मुझ से सीधा प्रश्न किया, आप तो स्वयं उस तीसरी दुनिया के हैं जिनकी बात हो रही है—आपका क्या विचार है?

मैंने कहा, जिन क्षेत्रों की बात हो रही है उनकी मेरी जानकारी कम है। यह ठीक है कि आप लोग जानकारी की इस कमी की भी बात कर रहे हैं। लेकिन मुझे तो लगता है कि आप की सोचने की जड़ ही कमजोर है। मुझे इस नाम (तीसरी दुनिया) पर ही आपत्ति है। मैं अपने को तीसरी दुनिया का नहीं मानता, बल्कि मैं सोचता हूं कि तीसरी दुनिया की बात खतरनाक बात भी हो सकती है।

मेरा स्वर आरोप का नहीं था। मेरा विश्वास था और है—कि जो लोग बातचीत में

भाग ले रहे थे उनकी भारत के प्रति सच्ची सद्भावना थी—भारत ही नहीं, सामान्यतया जिन देशों की बात वे उठा रहे थे उन सभी के प्रति। लेकिन सभी कुछ अचकचाए से मेरी ओर देख रहे थे। मैंने बात जारी रखते हुए कहा, "देखिए, आप लोग तो लेखक हैं, सरकार या सरकार के प्रतिनिधि नहीं हैं, आप तीसरी दुनिया की बात कैसे करते या कहते हैं? दुनिया तो सिर्फ एक है जिसे हिस्सों में बांट लिया गया है और अब उस बांट को स्थायी मान कर—"

किसी ने मेरी बात काटते हुए कहा, "यह तो बिल्कुल आदर्शवादी अवधारणा है।"

मैंने भी उसी तरह उनकी बात काटते हुए कहा, "बिल्कुल ठीक कहा आपने। दुनिया एक है, यह आदर्शवादी धारणा है, लेकिन यह कोरा आदर्शवाद नहीं है, यह साहित्यकार को पहचान सकना चाहिए। नहीं तो जिसे हम-आप साहित्य मानते हैं वह भी आज निरा आदर्शवाद है और हमें उसकी भी बात नहीं करनी चाहिए।"

किसी और ने उदार होकर मुझे बात कहने का अवसर देने के स्वर में कहा, "आपकी यह आपत्ति हम मान लेते हैं कि दुनिया एक है और इसलिए तीसरी दुनिया की बात कुछ ग़लत हो जाती है, लेकिन यह तो परिभाषा का सवाल है। जब हम स्पष्ट कर देते हैं कि तीसरी दुनिया से हमारा आशय क्या है तो—"

मैंने कहा, "आपने मेरे विचार जानने चाहे हैं तो मेरी बात पहले पूरी सुन लीजिए। धोखा परिभाषा में भी होता है। मैं भी कहूं कि मैं सिर्फ भौगोलिक सच्चाई की बात नहीं, परिभाषा की ही बात कर रहा हूं जब मैं कहता हूं कि दुनिया केवल एक है और उसमें संकट पैदा करने वाले ऐसे विशाल यंत्र खड़े हो गये हैं जिनकी टक्कर से सारी दुनिया को संकट है। ये दो दुनियाएं नहीं हैं, दो यंत्र हैं और इनसे संकट तीसरी दुनिया नाम के अंश को नहीं है बल्कि पूरी दुनिया को है। इसमें इतना और जोड़ दे सकता हूं कि क्योंकि ये दो यंत्र काफी बड़े भूभाग पर छाये हुए हैं इसलिए आगे जो संकट है वह मुख्यतया तीसरे शेष भाग पर ही है। तो क्या मैं यह भी नहीं कह सकता कि असल में तो तीसरी दुनिया ही वह एक दुनिया है जिसे हम बची हुई दुनिया कह सकते हैं? क्या आपको इस पर बहुत आपत्ति होगी? आप देखेंगे कि है यह भी परिभाषा की ही बात। लेकिन परिभाषा से ही दुनिया बदल गयी है। क्या आप यह मानने को तैयार हैं कि जिसे पश्चिम की दो मशीनी आवाज़ें तीसरी दुनिया कह रही हैं वही असली दुनिया है? या सोच यहां से आरंभ करने को न भी तैयार हों तो क्या इतना पहचानने को तैयार हैं कि ऐसे सोचने वाले भी हो सकते हैं?"

थोड़ी देर बाद किसी ने कहा, "बुनियादी सवाल उठ जायेंगे तो बात कैसे आगे बढ़ेगी। हम लोग मोटे तौर पर यह मान लेते हैं कि दो समूह हैं जो विकसित देशों के हैं और जिनकी पद्धतियां-यंत्रोद्योग की, शासन की और लोक-व्यवस्था की इतनी अलग-अलग हैं कि उनमें टकराहट भी हो सकती है, और एक तीसरा देश-समूह है जो इस दृष्टि से कम उन्नत है और—"

मैंने फिर बात काटते हुए कहा, "क्षमा करें, आप कोई नयी बात नहीं कह रहे हैं। मैंने जो सवाल उठाया वह आपकी बात को मानते हुए है। इस विकास या उन्नति की बात को ही लीजिए। क्या आपने उन्नति की भी उसी तरह केवल एक ही कसौटी नहीं रख ली जो आपकी कसौटी है? आप ही लोग जब मानव जाति के विकास या उसकी उन्नति की बात करते हैं तो इन शब्दों का अर्थ बिल्कुल दूसरा होता है। वहां आप सांस्कृतिक विकास की बात करते हैं। क्या यह कहने का कोई आधार है कि योरोप या अमेरिका या रूस सांस्कृतिक दृष्टि से भारत या

चीन या दक्षिणी-पूर्वी एशिया से ज्यादा उन्नत हैं ?"

किसी ने कहा, "आपकी यह आपत्ति भी ठीक है, लेकिन जिस दावे को आप काट रहे हैं वह तो किसी ने किया नहीं। फिर तीसरी दुनिया में तो एशिया के अलावा अफ्रीका और दक्षिण-अमेरिका के देश भी शामिल हैं। हम भी पलट कर पूछें कि क्या आप अफ्रीका के सब देशों को भी सांस्कृतिक दृष्टि से उतना ही उन्नत या विकसित मानते हैं। तीसरी दुनिया नाम से इसीलिए तो यह स्पष्ट हो जाता है कि सवाल सांस्कृतिक उन्नति का नहीं है।"

मैंने कहा, "क्यों नहीं है ? मैं तो बात को यहीं तक ले जाना चाहता हूँ कि बहुत से असली सवाल टाले जा रहे हैं। आपने एशिया और अफ्रीका के देशों का नाम लिया—यह 'अफ्रेशियाई' विशेषण भी एक दूसरा टाल-मटोल का रास्ता है। बल्कि ऐसा भी संदेह होता है, नहीं, निरे संदेह की बात नहीं है, ऐसी धारणा बनती है कि यह नाम भी उसी मनोवृत्ति का एक पहलू है जिसका दूसरा पहलू तीसरी दुनिया का नाम है। हमारी इकलौती दुनिया को केवल शाब्दिक आधार पर तीन हिस्सो में बांटने के दो तरीके हैं जिनमें से एक तथाकथित तीसरे हिस्से को वह नाम देकर अपना भोज्य बना लेना चाहता है और दूसरा उसे अफ्रीएशियाई नाम देकर धीरे-धीरे वश कर लेना चाहता है। दोनों हिस्से तीसरा अथवा अफीएशियाई दुनिया को पिछड़ा हुआ, अविकसित, निर्बल और परमुखापेक्षी मानते हुए उसे सहारा और प्रोत्साहन देने का दम भरते हैं जिससे कि वह भी अपने को निर्बल और असहाय मानने लगे और परमुखापेक्षी बनने की उस की आदत बन जाय। अगर यह उपनिवेशवाद नहीं है तो क्या है ? इतना कह सकते हैं कि यह उसका मंजा हुआ तरीका है। जहां आप को अपना बल न दिखाना पड़े बल्कि दूसरा ही अपने को असहाय मानकर आपका शरणागत हो जाय। मैंने जिन दो यंत्रों की बात की उन्हीं के गढ़े हुए ये बिल्ले हैं। आपने बिल्कुल ठीक कहा कि अफ्रीका और एशिया के देशों में कम समानताएं हैं। मैं कहूं कि इसीलिए तो एक नकली मगर आकर्षक रिश्ता जोड़ने के लिए यह नाम गढ़ा गया। इन ऐसे नामों का इतिहास देखें तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि एक की जगह में एक नाम गढ़ा जाता रहा है। उपनिवेशवाद के सिक्के का दूसरा पहलू यही है कि जिन देशों पर अधिकार करना या बनाये रखना है वहां ऐसी उपनिविष्ट मानसिकता पैदा कर दी जाय।"

कुछ लोगों के चेहरे पर यह भाव दीखने लगा था कि चुप बैठे हुए आदमी को छेड़ कर नाहक एक बवाल खड़ा कर लिया। न उससे सवाल पूछा गया होता, और न बहस यों पटरी से उतर गयी होती। किसी तरह बात को समाप्त करने के ढंग से एक ने पूछा, "तो आप स्थिति का निरूपण कैसे करना चाहेंगे ?"

मेरा उद्देश्य क्योंकि प्रभुत्व के एक संस्कार को झकझोरना था और वह एक अंश तक पूरा हो गया था, इसलिए कुछ मुस्करा कर मैंने कहा, "मेरे पास कोई बने-बनाये जवाब थोड़े ही हैं। मैंने तो इतना ही कहा था कि साहित्यकार को कुछ दूसरी तरह से भी सोच सकना चाहिए। अब मैं अपनी तरफ से कुछ न भी करूं और जो तथ्य सामने लाये गये हैं उन्हीं के आधार पर दूसरी अवधारणा करूं तो आपको कैसा लगेगा ? आपने एशिया की पुरानी और संपन्न संस्कृतियों की ओर इशारा किया। अब यह मानते हुए कि दुनिया एक है—और मैं समझता हूं कि इस बात का खंडन तो आप में कोई नहीं करना चाहेगा—अगर मैं कहूं कि इस दुनिया में कई देश ऐसे रहे और हैं जो सदियों से सांस्कृतिक विकास और उसके आधारभूत नैतिक मूल्यों को महत्व देते रहे, और दूसरे और कई देश ऐसे हैं जिन्होंने सम्पत्ति को और उससे आधारभूत आर्थिक नियमों

को अधिक महत्व दिया। और फिर यह भी कहूं कि इस दूसरे पक्ष ने संपत्ति के अधिग्रहण करने वाले दो तरह के आर्थिक संगठनों के माडल हमारे सामने रखे—तो कैसा लगेगा ?' तनिक-सा रुक कर मैंने कहा, "यानी बात तीसरी दुनिया की नहीं है, एक ही दुनिया की है जिसके एक बहुत बड़े हिस्से को यह मानने को लाचार किया जा रहा है कि इन दो आर्थिक संगठनों में से एक में शामिल हुए बिना आपका निस्तार नहीं है—वह किसी एक में शामिल हो जाय तो वहां से उसको पूरी मदद मिलने लगेगी।"

किसी ने मानो कुछ रियायत दिखाते हुए स्वर में कहा, "आज दुनिया की जो हालत है उसे दिखाने का, हां यह भी एक तरीका हो सकता है। दो में से एक रास्ता चुनने की लाचारी हमें दिखायी जा रही है और सवाल यही है कि क्या हम दोनों को अस्वीकार करके अपना रास्ता खोजने की बात नहीं कर सकते ? और कुछ देश ठीक यही तो कर रहे हैं—कह रहे हैं कि अपने इतिहास, अपने संस्कार और अपनी प्रतिभा के आधार पर ही हम अपना रास्ता चुनेंगे और अपनी संस्थाएं विकसित करेंगे।"

मैंने कहा, "लेकिन मैं भाषा के धोखे की बात कर रहा था। मान लीजिए कि मैं अब चालू परिभाषा न स्वीकार करके यह कहूं कि विकसित और कम विकसित अथवा विकासमान की वर्तमान परिभाषा छोड़ कर विकास की दिशाओं अथवा आग्रहों की बात कहें। उदाहरण के लिए यह कहें कि कुछ देश विकसित संस्कृतियों वाले हैं और कुछ दूसरे देश विकसित अर्थ-तंत्रों वाले और दोनों को सहारे की ज़रूरत है या कि दोनों पर कुछ पाने की ही नहीं, कुछ देने की भी जिम्मेदारी आती है। तो—"

किसी ने आश्चर्य और अविश्वास के स्वर में पूछा, "क्या आप यह दलील लेना चाहेंगे कि पश्चिम के देश सांस्कृतिक दृष्टि से पिछड़े हुए नहीं तो कम विकसित या विकासमान हैं ?"

मैंने हंस कर कहा, "क्यों नहीं ? सांस्कृतिक दृष्टि से पिछड़े हुए न होते तो सदियों तक लूटपाट और हिंसा के आधार पर ही अपनी प्रभुता और संपन्नता बढ़ाने में कैसे लगे रहे होते ? बहस को कड़वा कर देने का मेरा उद्देश्य नहीं है, न उसकी कोई जरूरत है। तथ्यों पर भी कोई बहस शायद नहीं है। केवल रिश्तों को सजा-संवर कर प्रस्तुत करने की बात है। पश्चिम और यहां पर यह स्पष्ट कर दूं कि जिन दो यंत्रों की बात मैंने कही, दोनों ही हमारे लिए पश्चिम हैं—पश्चिम कुछ अपने अतीत पर और कुछ अपने वर्तमान पर पर्दा डाल कर अपने सामर्थ्य को एक रूप में प्रस्तुत करना चाहता है और पूर्व, और यहां पर पूर्व के साथ ऐसा भी बहुत कुछ जुड़ जाता है जिसे दक्षिण कहना शायद 'ज्यादा' संगत हो लेकिन जो प्राचीन के अर्थ में तो पूर्व हो ही जाता है—पूर्व भी अतीत की कुछ चीजों पर पर्दा डालकर अपने को दूसरे रूप में समर्थ दिखाना चाहता है। ये अगर धोखे हैं तो बराबरी के धोखे हैं, बल्कि ये क्योंकि लोक व्यवहार के नियमों के अनुसार चल रहे हैं और उन नियमों को दोनों तत्व जानते हैं, इसलिए इन्हें धोखा भी नहीं कहना चाहिए, केवल व्यवहार कह कर ही काम चल सकता है। पश्चिम के दोनों यंत्र अपने कुकर्मों पर पर्दा डालना चाहते हैं—कुछ पुराने कुकर्मों पर और कुछ ऐसे भी जो पुराने नहीं हैं, जो हमारे जीवन काल में किए गये हैं, बल्कि कुछ तो इस समय किये जा रहे हैं, और पूर्व अपनी कमजोरियों पर पर्दा डालना चाहता है। कमजोरी को छिपाना चाहना कोई अच्छी बात तो नहीं है, लेकिन कुकर्मों को छिपाना चाहने से कम बुरी और दूसरों के लिए कम खतरनाक तो है ही।"

मैंने एक बार रुक कर सबकी ओर देखा और कहा, "आप लोग सोचते होंगे, तो हम

Hira Lal Thakur
BADAH P.o. MOHAL
KULLU-175126 H.P.

कहां पहुंचे ? पहुंचे यहां कि स्थिति को सामने रखने का एक यह भी तरीका हो सकता है कि सभी दूसरे-दूसरे अधारों पर अपने बड़प्पन या अपने सामर्थ्य का दावा करें। बिल्कुल जरूरी नहीं है कि दावे मान ही लिए जाएं, नहीं भी माने जा सकते हैं। इसका मतलब यह है कि आपके दावे उतने ही निराधार माने जा सकते हैं जितने दूसरों के। असल सवाल संबंधों को नयी रोशनी में देखने का है और एक समग्र व्यापक परस्पर-निर्भरता देखने का है। दुनिया पहली, दूसरी और तीसरी नहीं है, दुनिया एक है, और उसका कोई हिस्सा दूसरे हिस्सों के सहारे के बिना नहीं जी सकता और यह बात अकेले और आर्थिक स्तर की नहीं है। रिश्तों में हमें यह भी पहचानना होगा कि आर्थिक संतुलन भी प्राकृतिक, जैविक और सांस्कृतिक संतुलनों से अलग या उनके बिना नहीं है—कोई संतुलन ही नहीं है जब तक कि मानव के समग्र विकास, समग्र आकांक्षा, समग्र उपलब्धि को ध्यान में न रखा जाए।" थोड़ा रुक कर मैंने अपनी तरफ से बात समाप्त करते हुए कहा, "इतना अधिक बोलने के लिए मैं आप सबसे क्षमा मांगता हूं। यह अपराध मैं रोज-रोज नहीं करता, लेकिन साहित्यकार जब इकट्ठा होते हैं साहित्य के नाम पर और खोने लगते हैं दूसरी चीजों में, तब कभी-कभी उनका इस बात की ओर ध्यान दिलाना पड़ जाता है कि भाषा एक तरफ सर्जना का आधार है तो दूसरी तरफ समूचे मानव व्यापार का माध्यम भी। वह सर्वदा और सर्वथा वेध्य है। और यह पहचान और याद दिलाते रहने का काम सर्जक का है।"

सभी ने राहत की सांस ली और बातचीत समाप्त हुई। मैंने भी छुट्टी पायी।

लेकिन अब विदेश की उस गोष्ठी से लौटकर और यहां आपके सामने प्रस्तुत होकर कहूं कि जहां पर बात समाप्त हुई यहाँ उसी से आरंभ करना चाहता हूं। लेकिन इतनी लंबी भूमिका से आप घबराइये नहीं। बात उसी अनुपात में लंबी नहीं होगी क्योंकि बहुत-सी बात इस भूमिका में आ गयी है। वहां जिस परिणाम पर मुझे पहुंचना था और यहां जो पहली स्थापना मैं करना चाहता हूं वह यही कि हमारे पूर्वग्रह भी भाषा को लगातार एक रंगत देते चलते हैं और वह रंगत नये पूर्वग्रह पैदा करती हुई हमारे विचारों को प्रभावित करती है, चिंतन के लिए बने-बनाये नये सांचे हमें देती है। यह सर्जक का काम है कि इन सांचों को तोड़ता रहे और भाषा को मुक्त करता रहे। निःसंदेह इस तरह मुक्त की गयी भाषा फिर भी उतनी ही वेध्य होगी और पूर्वग्रहों की उसी प्रक्रिया में से गुजरेगी। फिर नये सांचे भी गढ़ देगी लेकिन वे फिर तोड़े भी जा सकेंगे और यह काम फिर सर्जक को ही करना होगा। इनमें से कुछ पूर्वग्रह तो प्रत्यक्ष भी होंगे, कुछ को सूझ-बूझ के साथ पकड़ना और उभारना होगा। यह बात कुछ विचित्र लग सकती है कि पूर्वग्रह प्रत्यक्ष हो और फिर भी हमें छल सके। लेकिन यह चीज तो भाषा के स्वभाव में है। भाषा व्यवहार की बीज होने के नाते समाजगत समयों का समूह होती है और स्पष्ट पूर्वग्रह भी समाजव्यापी होने के नाते ही स्पष्ट होते हैं।

इस स्थापना के बाद मैं प्रत्यक्ष पूर्वग्रहों के एक-दूसरे समूह की ओर आता हूं जिनका सीधा सम्बंध हमारे कला-बोध और कला समीक्षा से है।

2

आज हम भारतीय कला और स्थापत्य के जिन गौरव-स्थलों का नाम लेते हैं वे अधिकतर ऐसे हैं जिन्हें हमने उपेक्षा और विस्मृति के मलबे में दब जाने दिया था और जिनका पिछले

डेढ़-दो सौ वर्षों में पुनरुद्धार हुआ। इस पुनरुद्धार का बहुत कुछ श्रेय विदेशियों को जाता है। और अधिकतर उन्हीं को जो औपनिवेशिक सत्ता के प्रतिनिधि के रूप में ही यहां आये थे। इतना ही नहीं, खोज और जीर्णोद्धार का बहुत-सा महत्वपूर्ण काम उसी युग में ही हुआ जब उपनिवेशवादी मनोवृत्ति भी अपने उत्कर्ष पर थी। यह एक तथ्य है। यह भी तथ्य है कि जीर्णोद्धार और संरक्षण का यह काम कुछ भारतीय जाति के आत्मगौरव को टेक देने के लिए नहीं हुआ, बल्कि एक दूसरी ही ऐतिहासिक दृष्टि का परिणाम था। इसी तरह यह भी तथ्य है कि जो जाति किसी भ्रष्ट किये गये मंदिर को अथवा खंडित मूर्ति को धार्मिक दृष्टि से निष्प्रयोजन और इसलिए सर्वथा उपेक्षणीय मानने की अभ्यस्त हो गयी थी उसने इस विदेशी ऐतिहासिक चिंतन के संपर्क से इन भग्नावशेषों को एक नयी दृष्टि से देखना स्वीकार किया। लेकिन जहां हम इस कला चेतना को जगाने का बहुत सा श्रेय विदेशी शासक, विदेशी खोजी और विदेशी कलाविद् को देते हैं, और उचित देते हैं, वहां हमें यह भी देखना चाहिए कि इस नयी दीक्षा के साथ हमें जो कला चेतना मिली और उसे अभिव्यक्त करने की जो भाषा मिली उस पर उपनिवेशवादी चिंतन की छाप कितनी गहरी है।

एलुरा और ऐसे ही अन्य स्थलों का यत्नपूर्वक उद्धार करके जो लोग उन्हें फिर से हमारे सामने ला रहे थे उनकी धारणा उनके संबंध में कैसी थी इस को कम-से-कम एक उद्धारक ने बड़े स्पष्ट शब्दों में रखा ही था, यह बताते हुए कि किस प्रकार ऐसे अनेक मंदिर, गुफाएँ और अन्य स्थल ध्वस्त किये गये थे। उसने अपनी यह भी स्पष्ट राय दी थी कि ये सब इसी योग्य थे जैसे वह जाति भी इसी योग्य थी जिसकी अपरूप कल्पना की ये कृतियां थीं। एक तरफ इन स्थलों का उद्धार जिन की कला के लिए जलील, विकृत, निगति-प्राप्त आदि विशेषण उद्धारकों को सही जान पड़ते थे, दूसरी तरफ हिंदू जाति मात्र के प्रति ऐसी अवहेलना का भाव जिस के लिए ये विशेषण भी उन्हें हल्के से जान पड़ते थे—जिन्हें इसमें विरोधाभास दीखता है, उन्हें यह समझना चाहिए कि ये दोनों ही निर्णय भारत के इतिहास जो उस रूप में प्रस्तुत करने में सहायक होते थे जो उपनिवेशवादी मानस की रचना के लिए ज़रूरी था। वास्तव में यह जीर्णोद्धार उस समय के शासक की दृष्टि में यह प्रमाणित करने में सहायक ही था कि हिंदू जाति क्योंकि डिजेनरेट थी कि दूसरे उस पर शासन करें और क्रमशः उसे सुधारते हुए फिर थोड़ा बहुत स्वशासन के योग्य बनायें। दूसरे शब्दों में यह जीर्णोद्धार उसी नीति का दूसरा पहलू था जिसकी घोषणा मैकाले ने अपनी शिक्षा-नीति में की थी : आज कोई यह पूछ सकता है कि उस समय के शासकों की भले ही यह नीति रही हो, उसका फल तो वैसा नहीं हुआ और उदाहरण के रूप में हमारा ध्यान एलुरा से हटाकर कोणार्क और खजुराहो की ओर ले जा सकता है। एलूरा की मूर्तियां कम्पनी-बहादुर के कलापारखी को अवरूप भले ही लगी हों, अश्लील तो नहीं थीं, पर क्या आज इसके बावजूद इतने लोग इतने उत्साह से कोणार्क और खुजराहो देखने नहीं जाते? देशी भी और विदेशी भी? और क्या ये लोग खुजराहो-कोणार्क के मंदिरों को डिजेनरेट जाति की डिजेनरेट कृतियां मानते हैं?

मैं इस प्रश्न का सीधा जवाब नहीं दूंगा। जवाब पाने का काम आप पर छोड़ देता हूं लेकिन एक प्रति-प्रश्न आपके सामने रख कर। क्या आप ने लक्ष्य किया है कि विनोबा की इंदौर यात्रा से लेकर अब तक जब-जब सिनेमा पोस्टरों और रंगीन पत्रिकाओं के विज्ञापनों में अश्लीलता के विरुद्ध आवाज उठी है तब-तब अंग्रेजी पत्रों में उस अश्लीलता की सफाई में एक

दलील यह भी दी गयी है कि सिनेमा पोस्टर तो उन दृश्यों से आगे कभी नहीं जाते जो खजुराहो में अंकित हैं। क्या आपने यह भी विचार किया है कि सफाई की इस दलील की बुनियादी प्रतिज्ञाएं क्या हैं? इस दृष्टि की बात तो छोड़ ही दीजिए—मैं भी चाहता हूं कि कला मूल्यों का विचार धर्मनिरपेक्ष दृष्टि से ही करें—लेकिन क्या यह प्रश्न नहीं उठता कि जो लोग ऐसी दलील दे सकते हैं उनके पास क्या दृष्टि है भी? वे भी क्या तथ्यों का उपयोग एक विशेष प्रकार के प्रभुत्व की स्थिति बनाये रखने के लिए नहीं कर रहे?

वास्तव में मैकाले ने जिस तरह के नकली साहब बनाने का स्वप्न देखा था—स्वप्न ही नहीं देखा था बल्कि सुनियोजित योजना की घोषणा की थी—वैसे नकली साहब आज भी न केवल हमारे बीच में हैं बल्कि हमारे मन पर अपनी सत्ता बनाये रखने में जुटे हुए हैं और मानना होगा कि बहुत दूर तक सफल भी हैं। आजादी के युग की नीतियों ने और विशेष रूप से भाषा नीति ने उसकी मदद ही की है। यह नकली साहब ही जब इस संदर्भ में मानो हिंदू जाति की पीठ थपथपाता हुआ कहता है, 'सैक्स के मामले में तो हिंदू जाति की दृष्टि हमेशा बड़ी उदार रही,' तब वह एक तरफ तो अपनी जीवन परिपाटी के लिए समर्थन प्राप्त कर लेता है, दूसरी तरफ समस्त हिंदू शास्त्र और वाङ्मय और कला को ऐसे संदर्भ में रख देता है जिसे स्वीकार करने के साथ-साथ हम पश्चिम की तुलना में उसकी हीनता भी स्वीकार कर लेते हैं—क्योंकि जो मूल्य वास्तव में उनमें प्रतिष्ठित रहे, जिन की साधना हिंदू जाति के इतिहास का अंग रही, उन सब को इस प्रकार हम अनदेखा करने की सुविधा पा जाते हैं—सैक्स ही हमारी एकमात्र कसौटी रह जाती है।

आधुनिक भारतीय कला—अब इस नाम से जो भी कृतियां आपकी आंखों के सामने आती हों—आधुनिक भारतीय कला के विकास की ओर ध्यान दें तो वहां भी यही दीखता है कि एक राष्ट्रीय पुनर्जागरण अथवा एक से अधिक पुनरुद्धारों के बावजूद वहां भी भारतीयता का लोप ही हुआ है—और आधुनिक की उपलब्धि हुई है या नहीं यह संदिग्ध है। इतना अवश्य है कि कला की समीक्षा के लिए एक शब्दावली हमें मिल गई है जिसका भारतीय कला चिंतन अथवा सौंदर्य शास्त्रीय परंपरा से तो कोई संबंध है ही नहीं—उस पश्चिम की कला से भी अगर है जिससे वह प्रेरित हुई है तो इतना ही कि उसने नकल को एक शास्त्रीय आधार दे दिया है। दूसरे शब्दों में योरोपियन मानस को एक प्रतिष्ठा दे दी है।

उन्नीसवीं शती में—या कह लीजिए कि अठारहवीं शती के अंतिम चरण से लेकर उन्नीसवीं के मध्य तक—भारत की अपनी चित्रकला परंपरा लगभग पूरी तरह मिट गई क्योंकि उसके संरक्षक देशी रजवाड़ों में ही बचे थे। उनके ह्रास और विलय के साथ-साथ भारतीय परंपरा के कलाकार भी निराश्रय हो गये और वह कला भी लुप्त हो गई। आज के सब कला-आलोचक और आधुनिक धारा के कलाकार यह कहते पाए जाएंगे कि वह कला घटिया थी, इलस्ट्रेटिव थी या उसमें किसी कथा अभिप्राय की अनिवार्यता या प्रधानता थी। एक तो यही बात कई तरह के संकेत देती है जिनकी पड़ताल होनी चाहिए। उदाहरण के लिए यही कि इस देश की चित्रकला में ही नहीं, मूर्ति कला में भी, बल्कि नृत्य में भी कथा-अभिप्राय हमेशा से रहा जो कि काव्य-चिंतन में वाक् की प्राथमिकता का प्रतिबिंब था। इस अर्थ में तथाकथित इलस्ट्रेटिव प्रवृति अथवा कथा-अभिप्राय की उपस्थिति चित्र अथवा मूर्ति को केवल कला परंपरा के साथ ही नहीं जोड़ती थी, उस गृहीता समाज के साथ भी जोड़ती थी जिसके बीच में वह पनपती थी

और जिस तक पहुंचना उसका प्रयोजन था। इस कला के लोप के साथ कम्पनी शैली के जो चित्र आए सच तो यह है कि वह भी कुछ कम इलस्ट्रेटिव नहीं थे, फर्क इतना ही है कि उनकी इलस्ट्रेटिव प्रवृत्ति का आधार कथा-वृतांत न होकर दृश्य का रूपायन हो गया था, यानी नरेटिव के बदले वे डेस्क्रिप्टिव हो गए। जो आलोचक आज रविवर्मा के चित्रों की भर्त्सना करते हैं—और अगर आधार सही होता तो भर्त्सना भी उचित होती—लेकिन वे इस बात का सामना नहीं करते कि रवि वर्मा का शिल्प और तंत्र-कौशल विदेशी होने पर भी उनके चित्र लोकप्रिय भी थे और संस्कारवान भारतीयों के घरों में भी इसलिए स्थान पाते थे कि वे जाने हुए कथा-अभिप्रायों को अपना आधार बनाते थे और उन्हीं के सहारे भारतीय मानस को छूते थे। कुछ चित्र उन्होंने डेस्क्रिप्टिव भी जरूर बनाए, लेकिन फिर ये चित्र उन्हीं—साहबी घरों में पहुंचे और वहीं समादृत हुए जो अंग्रेजी सैंरा (लैंडस्केप) की शैली की ओर आकृष्ट होना अपना कर्तव्य समझने लगे थे, या जो विदेशियों की देखादेखी संपेरा, बाजीगर, राजपूत आदि शीर्षकों वाली तथाकथित शबी हैं (पोर्ट्रेट्स) खरीदने और सजाने लगे थे।

उन्नीसवीं शती के अंत और बीसवीं के प्रारंभिक वर्षों में जरूर एक महत्त्वपूर्ण कला आलोचक और भारत के माडर्न आर्ट के पेशेवर आर्टिस्ट का रवैया विलक्षण है। बंगाल स्कूल नाम का यह आंदोलन फिर से जिलाया नहीं जा सकता जैसे कि कोई भी आंदोलन चुक जाने पर दोबारा जिलाया नहीं जा सकता, लेकिन उसकी उपलब्धियों की बड़ी दुखद उपेक्षा हुई है और मैं कहना चाहता हूं कि उस उपेक्षा के कारण भारतीय चित्रकला के सहज विकास में बड़ी विकृति भी आई है। हेविल के प्रोत्साहन और ठाकुर परिवार तथा शांति निकेतन के संरक्षण में पनपने वाला यह आंदोलन स्वाभाविक और अनिवार्य भी था, भारतीय भी था, अपने समय में आधुनिक भी था और आज भी कहना चाहता हूं कि सही भी था क्योंकि यह बड़ी गहराई में भारत की प्रतिभा और आकांक्षा के साथ जुड़ा हुआ था और उसे रूपायित भी कर रहा था। शिल्प और कलातंत्र की दृष्टि से उसने कई देशों से प्रेरणा ली, लेकिन मूलतया उन्हीं देशों से जिन्होंने दूसरे युगों में भारत से प्रेरणा ली थी—अर्थात् उसने भारतीय अस्मिता की खोज को वृहतर भारत के साथ ही जोड़ा। मैंने कहा कि यह कला आंदोलन भारत की तत्कालीन आकांक्षा और प्रतिभा से प्रेरणा भी ले रहा था। और उसे रूप भी दे रहा था, लेकिन यह भी उसका एक पक्ष ही है। यह भी उल्लेखनीय है—और यह बात मैं उसकी प्रशंसा में कह रहा हूं, उसकी भर्त्सना के लिए नहीं—कि उसका रूप कभी ऐसा नहीं हुआ कि वह भारतीय जनमानस के लिए असंवेद्य है क्योंकि उसने भी कथा-अभिप्राय को त्याज्य नहीं माना बल्कि लोक तक पहुंचने का साधन बनाया। जो लोग उसकी आलोचना में उसके समकालीन वानगोख और गोगें का नाम लेते हैं और योरोप के चित्रकारों को संस्थान-विरोधी और क्रांतिकारी दिखाते हुए बंगाल स्कूल के चित्रकार को कट्टरपंथी अथवा अतीतोन्मुख बताते हैं वे इस बात को अनदेखा करते हैं कि इन योरोपीय चित्रकारों का समाज उस समय भी विस्तारवादी था और अनूठे विदेशी अर्थात् एग्जोटिक को सहज भाव से ग्रहण करता था, जबकि दूसरी ओर भारत की समस्या स्वरूप की पहचान और एक सही आत्मबिंब की प्रतिस्थापना की थी जिसका इसलिए नये आयात के प्रति शंकालु होना स्वाभाविक था। इसमें उसका भाव प्रतिष्ठान के प्रति स्वाभाविक था जिसमें उसका भार प्रतिष्ठान के प्रति स्वीकार का नहीं, पूरे समाज के साथ एक प्राणता का था। बंगाल स्कूल क्रमश: निगति को प्राप्त हुआ, लेकिन इसकी जवाबदेही उतनी उसके कलाकार पर नहीं

है जितनी उस समय और उसके बाद के कला-चिंतक और आलोचक पर है जिसने न उसकी प्रेरणाओं को सही ढंग से निरूपित किया, न उसकी उपलब्धियों को सही पहचाना, न उसने आज तक इस तथ्य का सामना किया है कि बंगाल स्कूल तो अपने निष्प्राण हो जाने तक समाज से जुड़ा रहा, उसके द्वारा समझा जाता रहा, जबकि उसे उखाड़ फेंकने वाली आधुनिक कला की आज भी यह स्थिति नहीं है। यहां अगर मैं अलग से यामनी राय का नाम नहीं लेता तो उनकी कला के प्रति अवज्ञा से नहीं बल्कि केवल इसलिए कि जिस तरह उन्होंने एक सीमित प्रादेशिक परंपरा से अपने को जोड़ते हुए नया कुछ प्राप्त किया था, उसी तरह दूसरे कई प्रदेशों में कई चित्रकारों ने भी किया। मुख्य धारा से हटकर छोटी-छोटी देशज परंपराओं से प्रेरणा लेने की व्यापक प्रवृति के उदाहरण वह जरूर हैं। इसी तरह मैं अगर अमृता शेरगिल का नाम भी अलग से नहीं लेता तो यह उनकी कला अथवा उनके अवदान की उपेक्षा नहीं है। और अब नाम लेता हूं तो यह भी कहना चाहता हूं कि जिस तरह आनुवंशिक रूप में उनमें जो जाति परंपराएं मिली थीं उसी तरह उनकी कला में भी मिलीं तो यह एक सहज और स्वाभाविक बात थी। और अगर दोनों क्षेत्रों में लगातार तनाव रहा जिसने कि उनको रचनात्मक प्रेरणा भी दी तो यह तनाव भी स्थिति का अनिवार्य परिणाम था। निश्चय ही उस तनाव का रचनात्मक उपयोग करने के लिए अमृता शेरगिल की जितनी प्रशंसा की जाय कम है। लेकिन कला के आलोचक उन्हें पारंपरिक और आधुनिक को जोड़ने वाले कलाकार का पद देते हुए परंपरा और आधुनिकता के बारे में और जो कुछ कहते हैं तनिक उसकी ओर भी ध्यान दें। बंगाल स्कूल और विशेषकर गगनेन्द्रनाथ ठाकुर, अवनीन्द्र नाथ ठाकुर, नन्द लाल बोस, क्षितीन मजुमदार, विनोद बिहारी मुखर्जी आदि के साथ जो अवज्ञा बरती गई है उसका उल्लेख तो मैंने किया है। जिसे आधुनिक कला कहा जाता है उसकी मुद्रा की भी कितनी निराधार स्फीति की जाती रही है यह भी तो देखना चाहिए। अमृता शेरगिल यदि आधुनिक थी तो उनकी आधुनिकता में भारत के साथ जुड़ने की ललक का दर्द भी था क्योंकि वह स्वयं भी एक तनाव भरे ढंग से भारत के साथ जुड़ी थीं। लेकिन आज के आधुनिक कलाकार ? वे तो कहीं कैसे जुड़े भी नहीं, न जुड़े होने का दर्द या तनाव उनकी कृतियों में है। वे तो कटे हुए ही हैं और कटे होने का दर्द भी सब में तो नहीं है, किसी रचनाशील रूप में नहीं है। और अपनी स्थिति को लेकर कोई तकलीफ भी उन्हें नहीं क्योंकि कुल मिलाकर यह स्थिति आराम की, मुनाफे की और एक उच्चता बोध की ही स्थिति है जिसे समकालीन आलोचक से भरपूर सहारा मिलता है। स्वयं उस आलोचक की भी यही स्थिति है : वह अंग्रेजी में आलोचना करता है, अंग्रेजी के सिवा किसी भाषा में कर ही नहीं सकता क्योंकि कोई दूसरी भाषा उसने वह करने लायक स्तर तक सीखी ही नहीं। कला की किसी भारतीय भाषा की शब्दावली का ज्ञान तक उसे नहीं है और अंग्रेजी की जिस परिभाषित शब्दावली का इस्तेमाल वह करता है उनके संस्कार या तो पराये हैं कि वे शब्द यहां लागू ही नहीं हो सकते, या जो शब्द हो सकते हैं उनका इतिहास उपनिवेशवाद के साथ इतना जुड़ा है कि उनके सहारे भारतीय कला को देखना पराई दृष्टि से देखना ही है।

जिन्हें यह बात अतिरंजित या अन्यायपूर्ण लगेगी उन्हें मैं यह भी याद दिला दूं कि भारतीय संगीत की आलोचना में भी अधिकांशतः यह नहीं हैं क्योंकि उनकी परंपराएं नष्ट नहीं हुई थी और उनकी पारंपरिक शब्दावली भी अनुपलब्ध-सी नहीं हो गई थीं। इसलिए इस क्षेत्र में औपनिवेशिक मानस को वैसी छूट नहीं मिली और उसका मुकाबला कर सकने वाले विद्वान

आलोचक भी बराबर मिलते रहे। साहित्य के क्षेत्र में रंगमंच के साथ जरूर बहुत कुछ वैसा ही हुआ जैसा चित्र अथवा मूर्तिकला के साथ। वहां भी जिर्णोद्धार का काम तो हो रहा है लेकिन दृष्टि में अपेक्षित स्वच्छता नहीं है और अभी तक तो इसकी काफी संभावना है कि उद्धार किए गए ये रूप एक तथाकथित आधुनिक रंगमंच के लिए उपयोग्य नमूने हो जाएंगे जिस तरह तथाकथित आधुनिक चित्रकला के लिए देवनागरी अथवा अन्य लिपियों के अक्षर लिए जा रहे हैं—अक्षर जो विद्या के माध्यम से भाषा के वर्ग नहीं हैं, केवल दृश्य के अलंकरण के अभिप्राय रह गए हैं—और अब सार्थक अभिप्राय भी नहीं, अर्थात् अभिप्राय भी नहीं क्योंकि उनमें अभिप्रेत तो कुछ रहा ही नहीं, वे केवल निरर्थक चिह्न रह गए हैं।

3

मैं नहीं जानता कि शीर्षक से आपकी जो भी अपेक्षा बनी होगी उसे मैं पूरा कर पाया हूं या नहीं। यदि आपको निराशा हुई तो क्षमा मांगने में मुझे कोई संकोच नहीं है। यदि नहीं हुई और सोचने को कुछ सामग्री मिली—भले ही आप मुझसे सहमत न हों—तो मैं अपने को सफल समझूंगा। लेकिन अपना निवेदन समाप्त करने से पहले एक बार फिर आपको प्रस्तुत विषय से तो नहीं, प्रस्तुत समाज से दूर और वापस उसी गोष्ठी तक ले चलना चाहता हूं जिसकी चर्चा से मैंने आरंभ किया था।

वह गोष्ठी जब बिखर गई और दूसरे सब लोग हट गये तब एक व्यक्ति ने मेरे पास आकर कहा, "मुझे आपकी बातें बहुत दिलचस्प लगीं। आपने इस विषय में कुछ लिखा भी है या इस विषय पर कुछ सामग्री मुझे दे सकते हैं ?"

पता लगा कि वह सज्जन भाषा विज्ञान के अध्यापक भी हैं और भाषा के समाजशास्त्रीय अध्ययन के क्षेत्र में उनके देश में भी कुछ चर्चा ऐसी चली है कि उपनिवेशवादी चिंतन का प्रभाव भाषा पर पड़ता है। अभी तक इस बात को गंभीरता के साथ नहीं लिया जाता और इसलिए यदि मैं उन्हें इस अवधारणा का समर्थन करने वाली कुछ दलीलें दे सकूं तो वह आभारी होंगे। यों उन्हें इस बात से तो बल मिला ही कि एक भूतपूर्व उपनिवेश का साहित्यकार इस प्रश्न पर इस दृष्टि से विचार कर रहा है।

मैंने इस विषय पर अभी तक कुछ नहीं लिखा यह तो मैं उन्हें बता ही चुका था। भाषा का समाज-विज्ञान मेरा विषय भी नहीं है, इसलिए उस क्षेत्र में कोई शास्त्रीय स्थापना करने का कोई अनधिकार-प्रयत्न मैं नहीं करूंगा, लेकिन समाज में रहता हूं, भाषा को व्यवहार के लिए ही नहीं, रचना के लिए भी अनिवार्य पाता रहा हूं। यथासंभव ढंग से सोचने की दीक्षा विज्ञान से ही पाई है। कलाओं में बचपन से ही रुचि रही है और कलाकारों के बीच बैठने, उनसे विचार-विमर्श करने का अवसर जब-तब मिलता रहा है। इस प्रकार जो दलीलें मैंने आपके सामने रखी हैं उनके बारे में कोई वैज्ञानिक स्थापना करने का अधिकार तो मेरा नहीं बनता, लेकिन इतना कह सकता हूं कि जिन प्रवृत्तियों की चर्चा मैंने की है उनके बारे में अनजान नहीं हूं और जो चिंता मैंने आपके सामने प्रकट की है उसे मैं गंभीर और महत्त्वपूर्ण मानता हूं। साधनों की कमी के कारण हमारे देश का औसत आदमी अब भी साहित्य की वाचिक परंपरा को छोड़कर दूसरी कलाओं की उपलब्धियों से बहुत कुछ वंचित है। औपनिवेशिक इतिहास ने उसे दरिद्रतर

ही बनाया। आजाद होकर भी देश अपनी प्रतिमा की सृष्टियों को न केवल उस तक पहुंचा नहीं सका बल्कि उस विशाल समाज और एक छोटे-से सुविधासंपन्न तथाकथित अभिजात वर्ग के बीच की खाई को बढ़ने ही देता गया है। आजाद देश में भी औपनिवेशिक मानसिकता अभी बनी हुई है। उसने जान लिया है कि भाषा को भी अपना साधन बनाया जा सकता है और भारत की भाषायी स्थिति में तो उसके लिए यह काम बहुत ही आसान हो जाता है। जब तक हम भारतीय मानस को उपनिवेशवाद के इस शिकंजे से मुक्त नहीं करते तब तक स्वाधीनता विशेष फलवती होने वाली नहीं है और सांस्कृतिक क्षेत्र में तो वह लगातार परती को ऊसर, ऊसर को बंझर और बंझर को विस्तीर्ण मरुस्थल में ही परिवर्तित करती जाएगी।

क्या यही हम हो जाने देना चाहते हैं ? यदि नहीं तो अपना कर्तव्य हमें पहचानना और करना चाहिए।

मानवाधिकारों के प्रति भारतीय दृष्टिकोण

□ आचार्य शालिग्राम शर्मा

यह निःसंदेह सत्य है कि सृष्टि के समस्त प्राणिवर्ग में मनुष्य ही सर्वश्रेष्ठ प्राणी है। इसे सभी प्रकार के कर्मों के करने में, हर प्रकार के ज्ञान-विज्ञान के आत्मसात् करने में, नवीन से नवीनतम कल्पनाओं, विचारों तथा अनुभूतियों में प्रकृति की ओर से पूर्ण सुविधा तथा स्वातंत्र्य प्राप्त है। वह अपने इस प्रकृति प्रदत्त अधिकार का सदुपयोग करके आत्मकल्याण भी कर सकता है, समस्त दुःखों से मुक्ति तथा ईश्वर प्राप्ति कर सकता है, तथा दुरुपयोग करके आत्मपतन भी कर सकता है, फिर से शूकर-कूकर आदि योनियों में दुःख भोगने के लिए विवश हो सकता है। यही बात गीतादि शास्त्रों में वर्णित है :

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ।
बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मनाजितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥

अर्थात् जिस मानव ने विषय-भोगों की आसक्ति को छोड़कर आत्मसंयम के द्वारा सन्मार्ग का आश्रय लेकर आत्मकल्याण कर लिया उसे अपना मित्र समझना चाहिए। और जो इसके विपरीत विषय-भोगों में आसक्त होकर इन्द्रियों का दास बनकर कुमार्गरत हो जाता है, तथा अपना पतन कर लेता है उसे अपना शत्रु समझना चाहिए। इसलिए मानव जन्म को पाकर मनुष्य को अपने उत्थान और पतन का पूर्ण अधिकार तथा स्वातंत्र्य प्राप्त है। इसीलिए शास्त्रों में सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा देते हुए मनुष्य को पूर्ण सावधान किया गया है :

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्यवरान्निबोधत ।
उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ॥

अर्थात् हे मानव ! उठो, जागो, महापुरुषों की संगति में जाकर सन्मार्ग पर चलना सीखो। तुम्हें अपना उद्धार अपने आप ही करना होगा। ऐसा काम मत करो जिससे तुम्हारा पतन हो। श्रीमद्भागवत में तो इससे भी उत्तम बात यों कही है :

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम् ।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा ॥

अर्थात् मानव देह ज्ञान और भक्ति का साधन होने से श्रेष्ठ है। यह उत्तम नौका के समान है, सभी फलों का मूल है, करोड़ों उपायों से भी अलभ्य है, फिर भी दैव योग से मिल पाया है। गुरु रूपी नाविक के द्वारा तथा मेरी कृपा रूपी पवन से आगे बढ़ रहा है, फिर भी यदि इस अमूल्य देह नौका का सदुपयोग न करके—भव सागर से पार होने का प्रयत्न न करे तो वह

मनुष्य स्वयं अपना ही नाश करता है, तथा आत्मघाती है। इधर मनुष्य शब्द का अर्थ भी ऐसा ही प्रतीत होता है—मत्वा कर्माणि सीव्यतीति मनुष्यः, (यास्क) अर्थात् जो विचारपूर्वक अपने कर्त्तव्य कर्मों का पालन करता है वह मनुष्य है। भर्तृहरि की यह सूक्ति भी यही बताती है—

आहारनिद्राभय मैथुनं च समानमेतत्पशुभिर्नराणाम् ।

ज्ञानं हितेषामधिको विशेषो ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः ।

अर्थात् सोना, जागना, खाना-पीना डरकर भागना, विषय-भोग ये सब बातें मनुष्यों की पशुओं के समान हैं, यदि मानव की पशु से कोई विशेषता है, तो वह है ज्ञान विवेक या धर्म और कर्त्तव्यनिष्ठा। तो इस प्रकार मानव स्वभाव की विशेषताओं को ध्यान में रखकर मानवाधिकारों के सम्बन्ध में भारतीय मनीषियों का दृष्टिकोण आज के प्रबुद्ध समाज से कुछ भिन्न प्रकार का है। आज जैसे सार्वजनिक स्थानों, होटलों, दुकानों, मनोरंजन के स्थानों आदि पर सबका समान अधिकार है। नौकरियों का अवसर प्राप्त करने का सबका अधिकार है। अस्पृश्यता विषमता की जननी, अतः उसका उन्मूलन भी मानवाधिकारों के अन्तर्गत है। विचारों की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता सभी संस्था सम्मेलन आदि काअ ायोजन, सर्वत्र निवास यातायात व्यापार कारोबार सम्पत्ति का अर्जन, रक्षण तथा व्यय आदि का सबको समान अधिकार है। शोषण के विरुद्ध अधिकार, धर्म स्वातंत्र्य परन्तु शासन और शिक्षा में धर्म निरपेक्षता इत्यादि बातों को मानव के मौलिक अधिकारों में स्वीकृत किया है। परन्तु भारतीय दृष्टि में इन्हें मौलिक अधिकारों का स्थान प्राप्त नहीं है क्योंकि मौलिक अधिकार तो उसे माना जाना चाहिए जो मानव जीवन का सर्वोच्चि लक्ष्य, उद्देश्य या प्रयोजन हो। प्रयोजन के सम्बन्ध में महर्षि गौतम का न्याय दर्शन के प्रथम अध्याय का निम्न सूत्र देने योग्य है 'यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते तत्प्रयोजनम्'। अर्थात् मनुष्य जिस वस्तु के पाने का अपने को अधिकारी समझकर, उसे पाने का प्रयत्न करता है उस वस्तु को प्रयोजन कहते हैं। और वह मानव की उत्कट इच्छा का विषय, अंततोगत्वा मानव क्या चाहता है कि जिसे पाकर उसकी समस्त इच्छाएं निःशेषतया पूर्ण हो जावें। वह है असीम सुख की प्राप्ति तथा आत्यन्तिक रूप से दुःख की निवृत्ति। इसी को मोक्ष, अपवर्ग, निर्वाण या ईश्वर प्राप्ति भी कहते हैं। भारतीय दृष्टिकोण में यही मानव का मौलिक अधिकार या जीवन का परम लक्ष्य है। अब देखना यह है कि इन दोनों दृष्टिकोणों में इतना भेद क्यों? इसका कारण यह प्रतीत होता है कि हमारे वर्तमान भारतीय संविधान में भारतीय परंपराओं, संस्कृति शास्त्रों और ऋषियों के उपदेशों की उपेक्षा की गई है। मौलिक अधिकारों के अध्याय का चयन अमेरिका के संविधान से किया गया है। वहां की संस्कृति और सभ्यता का आधार भौतिक है, अर्थ और काम है, भोग-विलास तथा उसकी साधन सामग्री है। वहां शरीर ही आत्मा है। जन्म से मृत्यु पर्यन्त का समय ही आत्मा का जीवन क्षेत्र है, इसलिए 'यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्' 'खाओ पीओ मौज उड़ाओ' वाले सिद्धांत की संस्कृति है। वहां न जन्मांतर है और न ही पर-लोक है। वहां पाप और पुण्य का मापदण्ड मानव की सुख-सुविधा है। जो उसके अनुकूल है, पुण्य है, जो प्रतिकूल है वह पाप है। परन्तु भारतीय दृष्टिकोण इससे भिन्न है। यहां आत्मा शरीर नहीं है किंतु इन सबसे भिन्न नित्य अनादि शाश्वत अजर-अमर तथा अविनाशी है। देह का संयोग और विरोग ही जन्म और मृत्यु है। जीवन काल में किए शुभ-अशुभ कर्मों का उत्तर-दायित्व पूर्णरूप से आत्मा पर है, वे उसे भोगने ही पड़ेंगे, बिना भोगे छुटकारा नहीं। जब तक आत्मस्वरूप के बारे में मिथ्या ज्ञान या भ्रांतियाँ विद्यमान हैं तब तक राग-द्वेष आदि दोष रहेंगे

ही। उनके रहते पाप और पुण्य का कोष बढ़ता ही रहेगा और तब तक जन्म-मरण का चक्र तथा अनेक दुःखों का भोग भोगते रहना ही पड़ेगा। और यह तब तक समाप्त नहीं होगा जब तक आत्मदर्शन या ईश्वर साक्षात्कार नहीं हो जाता। महर्षि याज्ञवल्क्य ने यही तो कहा है—

इज्याचारदमाहिंसा दान स्वाध्याय कर्मणाम्
अयंतु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्।

अर्थात् बड़े-बड़े यज्ञों का अनुष्ठान, सदाचार का पालन, मन तथा इन्द्रियों का संयम, सत्य अहिंसा का पालन, दान वेदादि सच्छास्त्रों का स्वाध्याय, ये सभी सत्कर्म होने से यद्यपि धर्म है तथापि इन सबका अन्तिम फल होने से आत्मदर्शन सर्वश्रेष्ठ परम धर्म है। यही मानव का मौलिक अधिकार है। मौलिक का अर्थ है, सब अधिकारों का मूल, यानी जिस अधिकार को पाकर फिर और अधिकार प्राप्त करने की इच्छा या आवश्यकता ही नहीं रहे, वही अधिकार मौलिक कहने योग्य है। शेष सभी अधिकार चाहे वे प्रशासनिक, राष्ट्रीय, सामाजिक, पारिवारिक तथा वैयक्तिक ही क्यों न हों सभी का सम्बन्ध इसी मौलिक अधिकार से है, वे सभी इसके अनुकूल होने चाहिएं और मोक्ष या ईश्वर प्राप्ति में बाधक हों, उनका परित्याग कर दिया जाता है। यहां एक बात और भी ज्ञातव्य है कि पाश्चात्य सभ्यता के अनुसार केवल दो ही पुरुषार्थ हैं, अर्थ और काम, यानी भोग-विलास और उसकी साधन सामग्री धन-दौलत। इनके अतिरिक्त तीसरा पुरुषार्थ कोई नहीं है। भारतीय संस्कृति के अनुसार चार पुरुषार्थ हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इनके क्रम विन्यास का भी बहुत महत्त्व है। अर्थ और काम से पूर्व में धर्म है और अन्त में मोक्ष। इसका यह अर्थ है कि अर्थ या धन का अर्जन तथा संग्रह, मनुष्य को धर्म के अनुसार करना चाहिए और उसका व्यय भी धर्मानुसार ही होना चाहिए, तथा काम यानी उस धन से भोगों का उपभोग भी धर्मानुसार ही होना चाहिए, तथा धर्म, अर्थ और काम इन तीनों का अन्तिम लक्ष्य भी मोक्ष ही होना चाहिए। इस तरह भारतीय दृष्टिकोण में जीवन का प्रत्येक कार्य धार्मिक भावना से अनुप्राणित है और उसका अन्तिम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति या ईश्वर साक्षात्कार है। इधर आज का मानव धर्म का नाम सुनकर नाक-भौं सिकोड़ता है, इसे राष्ट्र की उन्नति में बाधक समझता है, इसीलिए जिस देश को धर्म प्राण कहा जाता था वहां की राजनीति आज धर्म निरपेक्ष मानी जाती है। शिक्षा के क्षेत्र से धर्म को बाहर धकेल दिया गया है। धर्म की पथ-प्रदर्शक मनुस्मृति को घृणा की दृष्टि से देखा जाता है, उसे जलाया भी गया है, तथा उसका निर्माता होने से इस सृष्टि के आदि पुरुष स्वयंभू मनु को भी अपमानित होना पड़ रहा है। जिस महामानव ने मानव को मानवता सिखाई, मानव, यह पवित्र नाम दिया आज उसका इतना घोर अपमान अत्यन्त विस्मयजनक है। आज का मानव कह सकता है कि जिस मनु ने 'न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति' यह कहकर नारी को घर की चारदीवारी में बन्द करके उसके साथ घोर अन्याय किया है, मानव समाज को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन चार वर्णों में बांटकर ऊंच-नीच आदि विषमता का बीज बोया है तथा राष्ट्रोन्नति की विरोधी धर्मरूपी विषलता को चारों ओर फैलाया है वह सम्मान का पात्र कैसे हो सकता है? इस सम्बन्ध में हमारा मत यह है कि जो लोग मनु के धर्मशास्त्र को स्त्रियों के साथ अन्याय करने वाला, वर्ण-विभाग की विषमता का विष फैलाने वाला तथा धर्मरूपी विषमता को उत्पन्न करने वाला मानकर उसका अपमान करते हैं वे मनुस्मृति के रहस्य को समझ ही नहीं पाये और न उन्होंने मनुस्मृति को आद्योपान्त पढ़ा है, यदि राग-द्वेष से ऊपर उठकर निष्पक्ष इसका आद्योपान्त अध्ययन

कर लें तो इसमें से ही उनके संदेहों का समाधान हो जायेगा। उदाहरण के रूप में प्रसंग प्राप्त इन उपर्युक्त तीन बातों पर विचार लें। सर्वप्रथम धर्म को ही लें। मनु ने मौलिक रूप से जिन्हें धर्म माना है उनका संक्षिप्त रूप यह है :

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म लक्षणम् ।।

धृति धैर्य यानी सम्पति के मद में तथा विपत्तिओं के आघातों से अपने लक्ष्य से च्युत न होना। क्षमा-उदारता या सहिष्णुता। दम मन को अपने वश में रखना। अस्तेय किसी के अधिकार का अपहरण न करना या चोरी न करना। शौच-शरीर वाणी मन तथा बाहरी पवित्रता इन्द्रिय-निग्रह-इन्द्रियों का दास न बनना, उन्हें वश में रखते हुए सत्कर्म में प्रवृत होना। धी-बुद्धि की शुद्धि या निर्मलता काम-क्रोध आदि व्यसनों से रहित होना। विद्या-शास्त्रीय ज्ञान का अर्जन। सत्य-सच्चाई और अहिंसा में निष्ठा। अक्रोधकाम क्रोध मद लोभ अहंकार आदि दुर्गुणों से सदा दूर रहना ये संक्षेप से मनुप्रोक्त दश धर्म हैं। अब सोचें कि विश्व का कौन सम्प्रदाय है जो इनको किसी न किसी रूप में न मानता हो। मानव यदि अपने जीवन से इनको निकाल दे तो वह क्या शेष रह जावेगा। यदि राजनीति से इनको निकाल दें तो उस राजनीति को क्या कहेंगे। उसका क्या स्वरूप होगा, वही न जो आज है। यदि शिक्षा में से इन धर्मों को निकाल दें तो उसके शिक्षक और शिष्य कैसे होंगे ? तो क्या मानव की सच्ची मानवता मनु प्रोक्त इन्हीं धर्मों ने अपने अन्दर समेट कर नहीं रखी है ? इनका पालन करने की उन्होंने सभी को प्रेरणा दी है, किसी को रोका नहीं। चाहे वह किसी वर्ण या जाति का हो। वे अपने योग बल से सृष्टि के इस रहस्य को सूक्ष्म रूप से अच्छी तरह समझते थे कि प्राणिमात्र में चार वर्ग या वर्ण सहज रूप से प्रकृति द्वारा ही निर्मित हैं। उन चारों वर्णों के गुण स्वभाव तथा कर्म के अनुसार ही इन सामान्य धर्मों का विभाजन किया है। बुद्धिजीवी वर्ण के जैसे धृतिक्षमा आदि धर्म होंगे वलजीवी के उससे भिन्न-वाणिज्य जीवी के उससे भिन्न तथा श्रमजीवी के उससे भिन्न। उन्होंने किसी को विवश नहीं किया, कोई चाहे तो उनके उपदेश को माने, न चाहे तो न माने। उन्होंने तो अपनी ओर से इन चार प्रकार के भिन्न स्वभावों वाले मानव का परस्पर समन्वय करके इन्हें स्नेह के तन्तु से बांधने का प्रयास किया है। यही कारण था कि भारत के पारतन्त्र्य युग से पूर्व चारों वर्ण परस्पर स्नेह प्रेम तथा सम्मान से रहते थे। यही कारण है कि राजा भोज के समय एक लकड़ियां बेच कर आजीविका करने वाला श्रम जीवी शूद्र राजा भोज के अशुद्ध शब्द का प्रयोग करने पर निर्भीक होकर बोल उठा—

भारो न बाधते राजन् यथा बाधति बाधते ।[1]

पांव जंघा भुजा और मस्तक से इनकी उत्पति बताने का भाव भी यही है कि समाज शरीर के अभिन्न अंग हैं। एक-दूसरे के पूरक तथा सहायक है। रामराज्य में शम्बूक की घटना या तो विदेशी शासकों की दुरभिसंधि के फलस्वरूप एक प्रक्षेप है अथवा ईश्वर के अवतार भगवान राम ने उस तपस्वी शूद्र की कठोर तपस्या का फल देने के लिए वह नाटक रचा हो। यदि राम शूद्रों के द्वेषी होते तो उन्हें प्रजावत्सलता की उपाधि प्राप्त न होती। तथा किसी और शूद्र के सताने की घटना भी सामने आती। और रजक की घटना भी तो उन्हीं के राज्यकाल की है इसलिए मनु ने विषमता का विष नहीं बोया किन्तु प्रकृति की गुण कर्म स्वभाव सिद्ध विषमता का सुन्दर समन्वय करके राष्ट्र को भावनात्मक एकता के सूत्र में पिरोया है। अब रही बात नारी के साथ

अन्याय की। हमारे विचार में यह बहुत ही भ्रामक प्रचार है। इसकी वास्तविकता पर भी ध्यान नहीं दिया गया है।पूरा श्लोक इस प्रकार है—पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने। वैधव्ये पुत्रा रक्षन्ति न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति।। यहां रक्षति शब्द ध्यान देने योग्य है। रक्षा का प्रश्न उसी समय उपस्थित होता है जब किसी पर कोई विपत्ति सम्भावित हो। तो बाल्यावस्था में यदि कोई लड़की स्वेच्छाचारी बनकर माता-पिता आदि अभिभावकों की उपेक्षा करके जहां-तहां घर घर में, उत्सव मेलों में, सिनेमा घरों और क्लबों में घूमती फिरे, उस दशा में उसके साथ कोई अभद्र व्यवहार करे, बलात्कार अपहरण आदि कर ले तो क्या उसके साथ न्याय होगा ? तो इसी प्रकार की सम्भावित विपतियों से रक्षा का भार उस समय के अभिभावक माता-पिता पर दिया है। यौवन में यदि नव वधू ऐसा करने पर उतारू हो तो उसकी रक्षा का भार पति पर है। प्रौढ़ अवस्था में पति वानप्रस्थ में प्रवेश करते समय पत्नी को पुत्रों के पास छोड़ दे या पति शरीर त्याग दे तो उस समय माता की रक्षा का भार पुत्रों पर सौंपा है। आज की बलात्कार, व्यभिचार अपहरण आदि की अप्रिय घटनायें मनु के इस उपदेश की उपेक्षा का ही फल है। तो मनु ने तो नारी के चरित्र की रक्षा की दृष्टि से ऐसा कहा है। चारदिवारी के अन्दर बन्द रखने का कहीं भी संकेत नहीं दिया है। यदि वे नारी के द्वेषी होते तो "यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता:" इत्यादि अनेक वचनों से नारी को सर्वोच्चि सम्मान न देते। तथा उन्हीं मनु की पुत्री देवहूती ने अपने पति कर्दम के साथ दिव्य विमान के द्वारा ब्रह्माण्ड की सैर की थी। वह इतनी विदुषी थी कि अपने पुत्र महर्षि कपिल से अध्यात्म ज्ञान का उपदेश पाकर परम-सिद्धि को प्राप्त हुई थी। तो नारी शिक्षा का कहीं भी निषेध नहीं है। गार्गी, मैत्रेयी, मदालसा आदि सहस्रों नारियां इसका प्रमाण हैं। मनु स्मृति में तो नहीं किन्तु यदि अन्यत्र कोई वाक्य नारी के वेदाध्ययन का निषेध करता है तो उसका भाव भी वेदाध्ययन के गुरुकुल के कठोर नियमों के पालन की गुणकर्म स्वभावगत शारीरिक अक्षमता को ध्यान में रखना ही है। वेद के अतिरिक्त भी अनेक विधाएं हैं, उनका वैदुष्य तथा शिक्षा कहीं निषिद्ध नहीं है। और यह वचन भी सामयिक है। आज जब वेदाध्ययन के लिए कोई नियम नहीं है तब सभी पढ़ते ही हैं। कौन किसे रोकता है। अस्तु, यह एक प्रासंगिक चर्चा थी। तो भारतीय दृष्टिकोण मानवाधिकारों के मूल में ईश्वर और आत्मा की शाश्वत सत्ता जन्मान्तर की स्वीकृति तथा कर्म विपाक के सिद्धान्त को साथ लेकर उन पर विचार करता है। और उसमें भी अधिकारों की अपेक्षा कर्तव्यनिष्ठा को अधिक महत्व देता है। और कर्तव्य के मूल में भी योग्यता को विशेष अधिमान देता है। इसीलिए गीता में भगवान कृष्ण अर्जुन के प्रति कहते हैं—कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। अर्थात् मनुष्य का अधिकार या योग्यता कर्म करने में ही है। उसके फल में नहीं है। वह तो ईश्वराधीन है। अत: फलासक्ति का निषेध किया है। सामाजिक व्यवहार भारतीय दृष्टिकोण में कितना विशुद्ध तथा उदार है इसे निम्न पंक्ति से परखिए "अत्मन: प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्। दूसरे व्यक्ति का जो काम हमें प्रतिकूल प्रतीत होता है हमें चाहिए कि हम उसे दूसरों के प्रति न करें। इस एक छोटे से वाक्य में सारा पंचशील समाहित है। आज का समाज यदि इस सिद्धान्त पर चले तो सारे उपद्रव शान्त हो जायें तो सारांश यह है कि हमारे संविधान में मानवाधिकारों में समानता का समावेश बहुत महत्वपूर्ण है। संवेदनशीलता का भाव इसके मूल में निहित है। परन्तु इसकी पूर्णता प्रशासनिक नियमों या कानूनों के निर्माण से सम्भवत: न हो सके। इसकी पूर्णता के लिए भी भारतीय दृष्टिकोण ही अपनाना होगा। और वह है जन मानस में आध्यात्मिकता का

आगरण। जो कि भारत की चिर संचित सम्पति है। भाव यह है कि प्राकृत सृष्टि में विषमता एक स्वभावत: सिद्ध वस्तु है। समता कहीं है ही नहीं। प्रत्येक व्यक्ति का स्वभाव भिन्न है, उसके गुण भिन्न हैं, उसकी योग्यता तथा कर्म भिन्न-भिन्न हैं। उन्हें न तो शासन समान बना सकता है, और न नेता लोग ही समता में ला सकते हैं। इस विषमता में "सूत्रे मणिगणा इव" माला की मणिग्रों में सूत्र की तरह "ईश्वर: सर्वभूतानां हृद्देशे अर्जुन तिष्ठति" सभी प्राणियों के हृदय में विराजमान जो सच्चिदानन्द ईश्वर तत्व है उसकी अनुभूति को जनमानस में जगाना होगा और जब "सियाराम मय सब जग जानि करिहुं प्रणाम जोरि युग पागी।" जब यह अनुभूति जन मानस में जागृत हो जावेगी तब एक-दूसरे के प्रति ईर्ष्या, द्वेष, घृणा आदि सब दोष दूर जावेंगे। परस्पर भ्रातृभाव जागृत होगा, भावात्मक एकता बलवती होगी इससे ये हड़तालें अनुशासनहीनता, मुर्दाबाद के नारे, उग्रवाद, हत्यायें सब समाप्त हो सकते हैं। सौहार्द्र और प्रेम जागृत होगा। योग्यता के अनुसार कर्तव्यनिष्ठा तथा उससे स्वत: प्राप्त अधिकारों में संतोष और सुख का अनुभव होगा। कोई एक-दूसरे के अधिकार की छीना-झपटी नहीं करेगा। तभी सच्ची समानता का प्रकाश होगा। और यह होगा भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार आध्यात्मिकता के अपनाने पर, सर्वत्र प्राणी-प्राणी में ईश्वर का दर्शन करने पर। आवश्यकता है साधना के द्वारा स्वयं में आध्यात्मिकता को जान कर जन-जन में उसके जगाने के प्रयास की। तभी सब ओर से उस विश्व-बन्धुता का प्रकाश होगा, जिसे पाकर मानव हृदय के ये उद्धार होंगे—

सर्वेऽत्र सुखिन: सन्तु सर्वेसन्तु निरामया:।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दु:खभाग् भवेत्॥

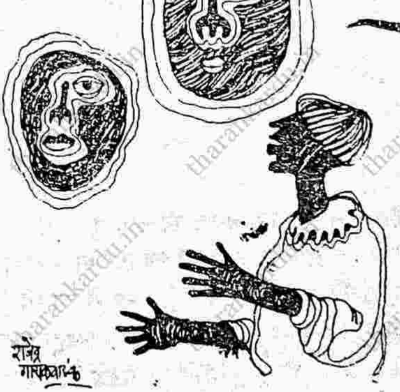

सातवें दशक की हिन्दी कविता में जीवन-मूल्य

□ अजित कुमार

जीवन मूल्य कोई रेवड़ियां तो हैं नहीं कि हर ठेले पर उनका ढेर लगा हुआ है और कोई भी जाकर उन्हें खरीद ला सकता है। जीवन-मूल्य अर्जित उपलब्ध करने होते हैं। किसी युग में इने-गिने कवि ही ऐसे होते हैं, जिनकी रचना जीवन-मूल्यों को आत्मसात करने में समर्थ हुई हो।

शाश्वत मूल्य भी नये सिरे से किसी युग के किसी कवि द्वारा आविष्कृत किए जा सकते हैं। पर जिन अंशों में वे अपने युग के होंगे, उनमें वे ठीक-ठीक शाश्वत नहीं माने जा सकते, उन्हें युगीन मूल्य कहना उचित होगा। यदि सारे मूल्य शाश्वत ही मान लिए जाएंगे, तब तो समसामयिक अथवा भावी मूल्य-चिन्ता की कोई संभावना ही शेष न रहेगी। यह एक तरह का आत्मनिषेधात्मक दृष्टिकोण होगा। उधर, शाश्वतता के प्रति परम मुग्धभाव भी अन्ततः नकारात्मक ही सिद्ध होगा।

किसी कविता में जीवन-मूल्य और उसी कविता में काव्योत्कर्ष—ये दो अलग-अलग विषय हैं। काव्यमूल्य भले ही जीवन से निःसृत हों, पर वे जीवन-मूल्यों के पर्यायवाची नहीं हो सकते। इसी तरह, उन कवियों को भी प्रासंगिक नहीं माना जा सकता, जिन्होंने पोथियों का उल्थाकर बहुमूल्य विचार या सुभाषित एकत्र किए हों। मूल्योपलब्धि तो है ही एक सृजनात्मक और जटिल प्रक्रिया। उसका संधान भी सरल अथवा यान्त्रिक रीति से नहीं किया जा सकता।

समाज में मूल्यवत्ता, मूल्यहीनता, मूल्यभ्रष्टता आदि बहुत कुछ होता या पाया जाता है, पर साहित्य में जहां मूल्यभ्रष्टता या मूल्यमूढ़ता दिखे, वहां भी तात्विक रूप से मूल्य चिन्ता ही देखी जानी चाहिए। समाज और साहित्य के प्रति दृष्टियों के इस अन्तर को ध्यान में रखना उपयोगी होगा।

आधुनिक हिन्दी कविता में जीवन मूल्यों की चर्चा युगानुसार करने की पृष्ठभूमि में कदाचित् यह विचार हो कि समय के साथ-साथ सामाजिक विकास के साथ-साथ—जीवन मूल्य भी विकसित या उन्नत होते जाते हैं—यह अनिवार्य नहीं। मूल्यों का भी उत्थान-पतन होता रह सकता है। संभव है, गांधीयुग के मूल्य उदात्त रहे हों, उत्तर-नेहरू युग के मूल्य कुछ उतरे हुए हों, लेकिन अगली सदी में वे शिष्ट-विशिष्ट भी हो जा सकते हैं—भले ही यह किसी प्रबल सामाजिक जागरूकता के नाते संभव हो। इसी के समानान्तर काव्य-विकास के ग्राफ में भी उतार-चढ़ाव आता रहता है गोकि काव्यभाषा के स्तर पर यह ज़रूर मानकर चला जा सकता है कि समय के साथ-साथ भाषागत क्षमताएं चूंकि बढ़ती जाती हैं, इसलिए भाषा या काव्य-

भाषा का ग्राफ नीचे नहीं आता।

संभव है, 'अहा, ग्राम जीवन भी क्या है !' एक मूल्य प्रतीत हो। 'सांप, तुम सभ्य तो हुए नहीं, न होंगे, नगर में रहना भी तुम्हें नहीं आया'—कदाचित् एक अन्य मूल्य माना जाय। पर बहुत करके ये किसी सामान्य अथवा गंभीर अनुभव से उद्भूत प्रतिक्रियाएं हैं, भाव-तरंगें हैं; इन्हें भी मूल्य बना दिया गया तो प्रत्येक युग में अपार मूल्य राशि एकत्र हो जाएगी और धीरे-धीरे लगभग सभी कुछ मूल्य प्रतीत होने लगेगा। यह वास्तव में, मूल्यों का अवमूल्यन होगा।

तथापि बहुत-सी कविता ने मूल्यद्रोह को भी एक तरह का मूल्य बनाकर उस बहुत-कुछ को तोड़ा है जो क्रमशः असत्य अथवा आडम्बर युक्त हो चला था। यह निषेध भी चूंकि एक विशेष मूल्य के रूप में प्रस्तुत प्रतिष्ठित-उपलब्ध किया गया, इसलिए उसे नकारा नहीं जा सकता।

पूर्वोक्त संदर्भों में सातवें दशक की हिन्दी कविता का अध्ययन करने से पहले, विषय से संबद्ध एक और पहलू की थोड़ी चर्चा ज़रूरी होगी।

किसी युग की 'कविता में जीवन-मूल्य' और किसी युग की 'कविता के जीवन-मूल्य'—ये दरअसल दो अलग-अलग खोजें हैं। यदि हम किसी 'कविता में जीवन-मूल्य' तलाश रहे हों तो यह एक तरह की शाश्वत सार्वभौमिकता की तलाश होगी—कुछ मान्य, स्वीकृत, पूर्ण, परम, प्रतिष्ठित जीवन-मूल्य होंगे जैसे कि सत्य, न्याय, अहिंसा, सदाचार, त्याग, तपस्या, परोपकार, ईमानदारी, सहिष्णुता, दया, क्षमा, करुणा, आस्था, निष्ठा, पवित्रता आदि-आदि; जो परंपरा से बहुमूल्य माने गए हैं। यह जिज्ञासा स्वाभाविक ही है कि ये सब इस युग-विशेष की रचना में किस हद तक और किस रूप में मिलते हैं।

पर यदि हम उस युग की 'कविता के जीवन मूल्य' जानना चाहेंगे तो यह खोज दूसरी तरफ से शुरू होगी। तब हम देखेंगे कि इस विशेष कविता ने कौन से जीवन-मूल्य निर्मित-निरूपित या खंडित किए हैं। तब हम युग और परिस्थितियों को भी देखेंगे। तब हम इसे ज़रूरी न समझेंगे कि जीवन-मूल्यों की तालिका बनाकर, उपयुक्त उद्धरणों से उसको सजाकर पेश कर दें। तब शायद हमारी रुचि इसमें अधिक होगी कि उस दशक की कविता में सत्य-अहिंसा-न्याय आदि की चिरन्तन छवियां देखते रहने की जगह हम यह जानने का यत्न करें कि सन् इकसठ से सत्तर तक की दस वर्षों की अवधि में हिन्दी कविता के जीवन-मूल्य क्या थे ?

इसके लिए हमें उस युग में—आज से थोड़ा पीछे लौटना होगा। आजादी मिलने के कुछ ही वर्षों बाद, सांप्रदायिक दंगों, गांधीजी की मृत्यु, कश्मीर-समस्या, बेरोज़गारी, बढ़ती जन-संख्या, अन्न-संकट आदि कितनी ही परिस्थितियों के कारण राष्ट्रीय स्वाधीनता झूठी मालूम होने लगी थी। छठे दशक के इस मोहभंग का सबसे विकराल रूप सातवें दशक में यानी साठोत्तरी अवधि में दिखाई दिया।

इसे बताने के लिए कुछ घटनाओं का उल्लेख मात्र पर्याप्त होगा। सन् बासठ के चीनी आक्रमण में भारत की घोर पराजय, पंडित नेहरू का देहान्त, सन् पैंसठ में पाकिस्तान से अनिर्णीत युद्ध, भारत के द्वितीय प्रधान मंत्री की मृत्यु, सन् सड़सठ में कांग्रेस के एकाधिपत्य में दरार, संविद सरकारों की असफलता, दलबदल और दशक के समाप्त होते-होते देश की पूर्वी सीमा पर संकट का फिर से गहराने लगना।

यह था वह वातावरण, जिसमें साठोत्तरी कविता लिखी गई। उसके अंतर्गत हम पचा-

सोत्तरी या सत्तरोत्तरी या आज की कविता को न लें तो भी अपने आप में वह इतनी व्यापक और विविधतापूर्ण है —साथ ही पहले और बाद की रचनात्मक एवं राष्ट्रीय स्थितियों से इतने गहरे तौर पर जुड़ी है कि उसके थोड़े ही अंश का उल्लेख यहां संभव है।

एक बात जरूर कहनी पड़ेगी कि जन-जीवन की स्थितियां जितनी विषम और संकट-पूर्ण थीं, उतनी घुटन और बेहाली इस अवधि की कविता में नहीं दिखाई देती। प्रचलित धारणा जरूर यह है कि साठोत्तरी कविता प्रमुखतः निषेध और नकार की कविता है, कि वह ऊब-खीझ-निराशा-हताशा-उदासीनता-अकेलेपन-सनक-आक्रोश-विद्रोह आदि की कविता है, कि मूल्य भ्रष्टता या मूल्यहीनता ही इस कविता का एकमात्र जीवन मूल्य है।

लेकिन ध्यान से देखें तो यह कथन साठोत्तरी कविता के तमाम रुझानों में से एक—अकवितावादी रुझान पर ही लागू होता है, जोकि पूर्ववर्ती प्रगतिशील या प्रयोगशील नयी कविता से अपने को भिन्न बनाने के उद्देश्य से एक कलावादी रुझान के रूप में विकसित हुआ था और जिसके कुछ उदाहरण 'प्रारंभ'(1963), 'अकविता'(1965-66), 'विजय' (1967) 'निषेध' (1972) जैसे संकलनों में या उनकी मनोभूमि से मेल खाते कुछ कवियों—राजकजल चौधरी, कैलाश वाजपेयी, श्रीकान्त वर्मा, धूमिल आदि—के स्वतंत्र संग्रहों में देखे जा सकते हैं। इन सभी कवियों में बहुत से आपसी फ़र्क थे। इनमें से कुछ अमरीकी बीट कविता से, कुछ यूरोपीय अस्तित्ववाद से, कुछ क्विग्ज़ोटी फ़ितूर से और कुछ आत्मप्रतिष्ठा के दंशों से पीड़ित थे। लेकिन हो सकता है कि जीवन-मूल्यों के स्तर पर इन्हें किसी एक खत्ते में डालने की प्रवृत्ति हिन्दी में नज़र आए। बावजूद इसके कि ये दिगम्बर, नंगी, भूखी, संत्रस्त कविता जैसे अनेकानेक बिल्लों, नामपटलों या पहचानपत्रों के साथ प्रकट हुए थे।

ग्यारह कवियों के संकलन 'निषेध' की भूमिका में संपादक ने लिखा था :

"यह कृतित्व जो आज की कविता का विसंगत संसार कहा जाता है, पूरे विश्व की उस टेढ़ी आंख का अंकन है जिसने सभी मानव मूल्यों को ध्वस्त कर दिया है और एक कुरूप, नंगा, विराट् अबाबील-सा तैरता नरकंकाल हमारे सामने अट्टहास कर रहा है।···

"हमारे कृतित्व को समझने के लिए एक विशिष्ट रुचि की अपेक्षा है। हमें पता है कि रुचियां एक दिन में नहीं बदलतीं—हमें प्रतीक्षा करनी है, अनवरत प्रतीक्षा···वी० आर० 'वेटिंग फ़ार द गोदो।' "

यह संपादकीय यद्यपि साठोत्तरी अवधि की समाप्ति पर लिखा गया था, जब आंदोलन के रूप में अकविता की दावेदारी बहुत कुछ खत्म हो चली थी और उसकी 'गोदो की प्रतीक्षा' सचमुच अनवरत प्रतीक्षा सिद्ध होनी थी, तथापि अकविता और संबद्ध काव्यधारा की आक्रामकता में कुछ ऐसी प्रभावोत्पादकता थी—अपनी दुविधा में उसने कुछ ऐसी आस्था व्यक्त की थी और अपनी विसंगति का कुछ ऐसा संगत विन्यास बनाया था। उदाहरण है मुद्राराक्षस की यह पंक्ति : **'थूक दिया जिस दिन रसज्ञता ने/खांसकर/अनजाने अजंता के चित्र पर/उस दिन लिखी गयी/कविता/दुबारा"**—कि साठोत्तरी अवधि के आरंभिक वर्षों में ही नामवर सिंह आदि कुछ आलोचकों और केदारनाथ सिंह आदि कुछ कवियों को लगा कि हिन्दी कविता में बदलाव आ गया है। केदारनाथ सिंह ने लिखा भी कि :" सन् साठ के बाद कविता का विकास दो दिशाओं में हुआ है—कविता से अकविता की ओर और शुद्ध कविता से एक खास किस्म की प्रतिबद्ध कविता की ओर।" (धर्म युग 4.7.65)

पर जैसा हम ऊपर बता आए हैं, अकविता का मुख्य विरोध प्रगतिशील कविता और प्रयोगशील नयी कविता से था, अभी तक जो विषय तथा क्षेत्र अकाव्यात्मक समझे गए थे, उनमें कविता की तलाश ये नयी पीढ़ी के कवि कर रहे थे और प्रकारान्तर से वे यही रेखांकित कर रहे थे कि उन्हीं की कविता वास्तव में 'कविता' है, शेष सब अकविता अर्थात् कविता से इतर या शून्य है। इसे ध्यान में रखें तो विकास हो रहा था —अकविता से कविता की ओर, न कि कविता से अकविता की ओर। कम से कम, इन कवियों की कोशिश तो यही थी।

जहां तक शुद्ध कविता से प्रतिबद्ध कविता की ओर जाने वाली दूसरी दिशा का संबंध है, न तो पांचवें-छठे दशकों में शुद्ध कविता जैसी कोई धारा हिन्दी में प्रचलित थी, न सातवें दशक में—पिछली प्रगतिशीलता या प्रयोगशीलता से भिन्न—कोई अन्य प्रतिबद्धता नज़र आई।

सच तो यह है कि साठोत्तरी कविता नयी कविता के ही एक रूपवादी या विरूपवादी लक्ष्मीकांतीय तेवर की चरम और तीव्र परिणति थी और जिसे 'ख़ास क़िस्म की प्रतिबद्ध कविता' कहा जा सकता था, वह कोई साठोत्तरी विकास नहीं, बल्कि पंत-बच्चन-दिनकर-अज्ञेय-मुक्तिबोध-भवानी-भारत भूषण अग्रवाल जैसे पहले से लिखते चले आ रहे वयस्क-वयोवृद्ध कवियों का वह विशिष्ट आग्रह या योगदान था, जो जीवन-मूल्यों की चर्चा के वर्तमान संदर्भ में निश्चय ही उल्लेखनीय है। सातवें दशक में इन कवियों ने प्रयोगशील, प्रगतिशील, अराजकतावादी और नकारवादी कविता से भिन्न जीवन-मूल्य प्रस्तुत, निरूपित किए, इसमें कोई संदेह नहीं। इन पर ध्यान दिए बिना समूचे परिदृश्य को समझना कठिन होगा।

उदाहरण के लिए जिन कुछ कृतियों का उल्लेख तुरंत किया जा सकता है और जिनका हमारी चर्चा से गहरा संबंध है, वे है : 1961 में प्रकाशित 'असाध्य वीणा' तथा 'उर्वशी'; 1663 में प्रकाशित 'परशुराम की प्रतीक्षा'; 1964 में प्रकाशित 'चांद का मुंह टेढ़ा है', 1965 में प्रकाशित 'दो चट्टानें' तथा 'लोकायतन'। इनके अतिरिक्त भारत भूषण अग्रवाल, भवानी प्रसाद मिश्र, धर्मवीर भारती, रघुवीर सहाय, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना आदि कुछ अन्य रचनाकारों की भी चर्चा इस सिलसिले में की जा सकती है।

इन कवियों द्वारा निरूपित जीवन-मूल्यों का विस्तृत अध्ययन तो अलग से ही संभव होगा, पर सांकेतिक रूप में हम यहां कुछ उद्धरण मात्र देकर काम चलाएंगे।

'असाध्य वीणा' के सिद्ध होने पर : **"सब डूबे, तिरे, झिपे, जागे—/हो रहे वशंवद, स्तब्ध/इयत्ता सबकी अलग-अलग जागी/सन्धीत हुई/पा गई विलय।"**

और अंत में :

> **"संगीतकार/वीणा को धीरे से नीचे रख, ढंक मानो/गोदी में सोये शिशु को पालने डालकर मुग्धा माँ/हट जाय, दीठ से दुलराती/—उठ खड़ा हुआ/बढ़ते राजा का हाथ उठा करता आवर्जन/बोला :/श्रेय नहीं कुछ मेरा/मैं तो डूब गया था स्वयं शून्य में/वीणा के माध्यम से अपने को मैंने/सब कुछ को सौंप दिया था/सुना आपने जो वह मेरा नहीं/न वीणा का था/वह तो सब कुछ की तथता थी—/महाशून्य/वह महामौन/अविभाज्य/अनाप्त, अद्रवित, अप्रमेय/जो शब्दहीन/सबमें गाता है।"**

अस्तु, साठोत्तरी अवधि में प्रकाशित अज्ञेय जी की रचना का जीवन-मूल्य है—निस्संग आत्मदान, परंपरा-बोध और आत्मसाक्षात्कार।

सौंदर्य, प्रेम, काम और अध्यात्म का निरूपण करने वाली दिनकर जी की प्रसिद्ध रचना के संबंध में एक आलोचक ने लिखा है कि : "1961 ई० में जब उर्वशी का प्रकाशन हुआ था, तब लगा हिन्दी-प्रदेश में कहीं किसी उद्जन बम का विस्फोट हुआ या किसी नवीन उपग्रह पर कोई क्षेप्यास्त्र छोड़ा गया ।" (वचनदेव कुमार)

ऐसी इस रचना का नायक समाधान देता है :

वह निरभ्र आकाश जहाँ की निर्विकल्प सुषमा में/न तो पुरुष मैं पुरुष, न तुम नारी केवल नारी हो।
दोनों हैं प्रतिमान, किसी एक ही मूल सत्ता के/देह-बुद्धि से परे, नहीं जो नर अथवा नारी है।
मैं भारमुक्त, अब कानन को जाता हूँ ।"

लेकिन समय और परिस्थितियों के दबाव ने दिनकर जी को विवश किया कि दो वर्ष बाद ही—चीनी आक्रमण की प्रतिक्रिया में वे काम, अध्यात्म, वैराग्य की मुद्रा त्याग, काननवासी 'परशुराम की प्रतीक्षा' करे। साठोत्तरी अवधि का यह जीवन-मूल्य नितान्त सामयिक और प्रासंगिक था :

"गाओ कवियो, जयगान, कल्पना त्यागो/आ रहा देवता जो, उसको पहचानो
है एक हाथ में परशु, एक में कुश है/आ रहा नए भारत का भाग्य पुरुष है ।"

इसके अनन्तर, सातवें दशक की समाप्ति पर 'हारे को हरि नाम' में दिनकर जी का स्वर फिर परिवर्तित हुआ :

"अब चल उसके द्वार, सहज जिसकी करुणा है
और कहाँ, किसका आँसू कब थमा ?/···रम उसमें जो है दिगन्त में रमा ।
हृदय आकुल मत होना ।"

इससे बिलकुल प्रतिकूल यद्यपि उद्वेलित और 'उठाने ही होंगे अभिव्यक्ति के खतरे' का उद्घोष करने वाली मुक्तिबोध की 'अंधेरे में' कविता की अंतिम पंक्तियों से मुक्तिबोध की खोज का कुछ अनुमान आपको हो पाएगा :

खोजता हूँ पठार···पहाड़···समुन्दर/जहाँ मिल सके मुझे/मेरी वह खोई हुई परम अभिव्यक्ति अनिवार/आत्म संभवा ।

सातवें दशक की ही नहीं, अब तक की हिन्दी कविता पर मुक्तिबोध के गंभीर प्रभाव की चर्चा का यहां अवसर नहीं हैं, पर जीवन-मूल्यों के प्रति उनकी सीधी, साफ और जटिलताओं का अवगाहन करने वाली दृष्टि का कम-से-कम एक हवाला तो देना ही चाहिए। जीवन-दर्शन की कुछ आवश्यकताएं गिनाते हुए मुक्तिबोध लिखते हैं :

"वे बुनियादी बातें तो हों जिन्हें जन-साधारण अपने हृदय में अनुभव करते हैं जैसे अन्याय का प्रतिकार, मानव साम्य की स्थापना के प्रयत्न, विकृत स्वार्थवाद और भ्रष्टाचार का विरोध, सामाजिक संबंधों में प्रेम और त्याग की भावना, अहंकार की उग्रता का विरोध, अपने घर में सोफ़ा-सेट रखने के लिए बुद्धि को बेच देने तथा धन द्वारा बुद्धि खरीदे जाने का विरोध, समझौता परस्ती के खिलाफ़ कड़ाई और साधारण भारतीय जनमत के प्रति भक्ति और अनुराग ।"

बस बच्चन तथा पंत का एक-एक उद्धरण और दे, मैं अपनी बात समेटने का यत्न करूँगा।' 'दो चट्टानें' कविता का उपशीर्षक है 'सिसिफ़स बरक्स हनुमान'। आल्बेयर काम्यू द्वारा

निरूपित एब्सर्ड हीरो सिसिफ़स का चट्टान ढोना व्यर्थता सूचक है जबकि हनुमान का पहाड़ ढोना सार्थकता-सूचक, क्योंकि बच्चन के अनुसार :

> **अब उनकी इच्छा उनके प्रभु की इच्छा थी/सदा, सब जगह और सभी के हित की इच्छा/उनकी शक्ति नियोजित थी अब राम-काज में ।**

यह कविता प्रसिद्ध वेद-मंत्र । कस्मै देवाय हविषा विधेय' के स्मरण से पूरी होती है ।

> **"किसे हविष्य समर्पित करते ?/जो कि आत्मदा, जो बलदा है/सारा विश्व/उपासक जिसका/सारे देव प्रशंसक जिसके/अमृत-मृत्यु दोनों/जिसकी छाया में पलते/उसे हविष्य समर्पित करते ।"**

अपने 'लोकायतन' को पंत जी ने "इस संक्रांति काल की युग-गाथा के भीतर से विकास को भी मानवता के जीवन-सत्य की झांकी" बताया है । काव्य का समापन इस विश्वास के साथ होता है :

"जन्म ले चुका अब नवमानव जड़चित् को कर रस-संयोजित
धरा स्वर्ग कल्पना न रह अब जन-जीवन में होता मूर्तित !
कवि मन के रससित दर्पण में देख भविष्य मनुज का आनन
आओ भू मन के विषाद को करें प्रेम के प्रभु को अर्पण ।

साठोत्तरी 'विषाद' के इस 'प्रेमार्पण' के साथ जीवन-मूल्यों का यह ब्यौरा एक तरह से पूरा हुआ समझ लेना चाहिए । लेकिन दो-चार वाक्यों में ही सही यह कहना जरूरी होगा कि सातवें दशक की स्थितियां आठवें दशक में काफी-कुछ बदलीं । बाँगला देश की मुक्ति, अन्न-उत्पादन में आत्म-निर्भरता, वैज्ञानिक औद्योगिक तकनीकी विकास, आपात्काल में राष्ट्रीय संकल्प की पुनः परीक्षा आदि अनेक कारणों ने हिन्दी साहित्य की अन्तर्निहित जीवन-शक्ति के साथ जुड़कर हिन्दी कविता का एक नया दौर संभव बनाया, जो भारतेंदु युग, गुप्त युग, छायावाद, प्रयोगवाद, नयी कविता, अकविता, प्रतिबद्ध कविता जैसे आन्दोलनों और किसिम-किसिम की प्रवृत्तियों को आत्मसात् करता हुआ, कलात्मकता और जनोन्मुखता के दोहरे गुणों से मिलकर आगे बढ़ रहा है । साठोत्तरी कविता के जीवन-मूल्यों की गूंज या झलक हम आज की कविता में भी ज़रूर पा सकते हैं ।

निष्कर्ष यह कि रचना में जीवन-मूल्य कहीं आसमान से नहीं टपकते, वे ठोस और वास्तविक स्थितियों, चारित्रिक विशेषताओं, जातीय परंपराओं, निजी रुचियों, तात्कालिक दबावों और कला संबंधी अनिवार्यताओं में से उपजते हैं । साठोत्तरी कविता से हम जैसे-जैसे दूर होते जाएंगे, इन प्रभावों को और अधिक पहचानेंगे । दुनिया न बिलकुल खत्म हुई, न खास बेहतर हुई लेकिन आज हमारी समझ इस मामले में कुछ अधिक बढ़ी ज़रूर है कि क्यों कुछ कवि उसे विष-घट समझ बौखला उठे थे और क्यों कुछ अन्य कवि उसे अमृत घट मानते हुए शांत-स्थिर बने थे ।

श्री सुमित्रानंदन पंत ने जो बात अपनी कृति 'लोकायतन' के बारे में कही वह इस परिप्रेक्ष्य में समग्र काव्य-सृष्टि या लोक-सृष्टि पर लागू होती है कि : "पाठक अपनी पिछली अपूर्ण मान्यताओं संबंधी पूर्वाग्रह को तथा वर्त्तमान जीवन की कुंठाओं को छोड़कर यदि लोकायतन का अध्ययन करना चाहें तो उन्हें निश्चित रूप से उसके अमृत कनक घट में संचित राग-चेतना का अनघ रस-स्पर्श मिल सकेगा ।"

[166, वैशाली, पीतमपुरा, दिल्ली-110024]

यशपाल की रचना-दृष्टि

□ डॉ० उषा चौहान

प्रेमचंद की परंपरा की सही विकास करने वाले लेखकों में यशपाल का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। यशपाल हिंदी कथा-साहित्य के ऐसे मोड़ पर उपस्थित हैं, जहां वे जीवन के यथार्थ को उसके सामाजिक संदर्भों में प्रस्तुत करने के उस कार्य को आगे बढ़ाते हैं, जिसकी शुरुआत प्रेमचंद ने अपनी मानवीय संलग्नता के साथ की थी। यशपाल ने राजनीतिक, सामाजिक, नैतिक एवं आंचलिक रचनाएं लिखी हैं। यशपाल हिंदी की प्रगति-चेतना, वर्ग चेतना से सम्पृक्त, सहज और स्पष्ट शैली के रचनाकार हैं, जिन्होंने शहरी मध्यवर्गीय और सामान्य जीवन को यथार्थ की भूमि पर देखा-परखा है और प्रेमचंद के बाद के हिंदी कथा-साहित्य को वास्तविक अर्थों में अपनी प्रगतिशील दृष्टि से संपन्न किया है।

यशपाल की रचना दृष्टि को समझने के लिए सर्वप्रथम उनकी कलादृष्टि पर विचार करना आवश्यक है। यशपाल की दृष्टि में जीवन की पुष्टि और विकास ही सबसे बड़ा सुख है। सुख का रूप बदलता रहकर भी मनुष्य का चिरंतन और शाश्वत लक्ष्य रहता है। वे कहते हैं—'इस सुख को अधिक सप्राण और सबल बनाने का प्रयत्न ही कला है। इसी उद्देश्य से सौंदर्य की सृष्टि और समृद्धि करना मनुष्य जीवन का उद्देश्य है।'[1] इस प्रकार मनुष्य की कलामय शक्ति ही उसके लिए नई दुनिया बनाती है तथा सुख-सौंदर्य एवं कला की प्यास को तृप्त करने का प्रयत्न और इनकी सृष्टि करने की शक्ति उत्पन्न करती है।

यशपाल के अनुसार, 'मनुष्य का सुसंस्कृत प्रयत्न और अभिव्यक्ति,...जीवन में सुचारू ढंग से तृप्ति की चेष्टा, कला है।...सुघड़पन और सौंदर्य की भूख कला को जन्म देती है।'[2] कला के किसी भी रूप को लें तो उसमें हमें सौंदर्य की तृप्ति ही मिलेगी। उदाहरण स्वरूप चित्रकला क्या है? मन लुभाने वाले पदार्थों या मन को गुदगुदाने वाले भावों और मुद्राओं को आंखों द्वारा चिरकाल तक भोग सकने योग्य बना देना। और इसी प्रकार संगीत कानों द्वारा मष्तिक को सुखद संवेदना देने का साधन है।

'कला वस्तुत: सौंदर्य तथा आकर्षण की मीमांसा मात्र नहीं है वरन् रागात्मक अनुभूति भी है। रागात्मक अनुभूति कला की पहली शर्त है—जो कला हृदय से नहीं उठती वह कष्ट-साध्य, समय-साध्य और निर्जीव होती है।'[3] इस प्रकार यशपाल भाव-शून्य और संदेश-शून्य कला कोकला मानने से इंकार करते हैं। वे कला को प्रेरक शक्ति बताते हैं तथा भावना के साथ-साथ विचारों को भी महत्त्व देते हैं। विचार विवेक सम्मत होने चाहिए और उन विवेक सम्मत विचारों की सफलता तभी है जब उन्हें भावना की फूंक मारकर सुलगाया गया हो। यशपाल के अनुसार—

'कला जीवन की अभिव्यक्ति है।'[4] इस कथन से तात्पर्य जीवन की यथार्थ अभिव्यक्ति से है।

यशपाल यथार्थवादी साहित्यकार हैं, पर उनका यथार्थ यथातथ्य चित्रण वाला प्रकृतवादी यथार्थ न होकर सामाजिक यथार्थ है। उनका यथार्थ आदर्श से हीन नहीं है। वे कहते हैं, "कलाकार की कला का आधार समाज की अनुभूतियां और आदर्श होते हैं। हमारी अनुभूति हमारे अनुभवों का सार है और हमारे आदर्श हमारी मंजी हुई कल्पनाएं हैं। आदर्श के बिना हम जीवन की आकांक्षा और चेष्टा खो बैठेंगे। आदर्श हमारे जीवन का लक्ष्य है, परंतु यथार्थ की हमारी अनुभूति भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। वह असंतोष और उत्साह उत्पन्न कर आदर्श की सृष्टि करती है। आदर्श की तुलना में यथार्थ अरुचिकर होगा ही, वरन् आदर्श की कल्पना और उसके लिए प्रयत्न ही क्यों किया जाए।"[5] इसीलिए उन्होंने यथार्थ का चित्रण तो किया ही है, पर वह आदर्श से समन्वित है।"

प्रगतिशील कथाकार अपने व्यक्तिगत अभावों को समग्र जीवन में देखता है और जब महसूस करता है कि इस दुनिया की परिस्थितियां जीवन की राह बंद किए हैं तो उसके जीवन का उच्छ्वास कराह उठता है। उसी कराह को कला में लपेटकर कलाकार दर्द भरे संगीत का रूप देना चाहता है। यशपाल कला को कला के लिए नहीं मानते बल्कि कला को जीवन की कराह भरा उच्छ्वास मानते हैं। वे सामाजिक कल्याण की भावना से प्रेरित होकर साहित्य सृजन करते हैं और इस केंद्रीय लक्ष्य से वे कभी नहीं डिगते। कला की सार्थकता समाज और जीवन को उच्चतम बनाने में है। यशपाल इसी विचार को अपनी रचनाओं का आधार बनाकर 'कला जीवन के लिए' की अभिव्यक्ति करते हैं। उनका कहना है—"कला को कला के लिए निर्लिप्त क्षेत्र में ही सीमित न रखकर मैं उसे भावों या विचारों का वाहक बनाने की चेष्टा करता हूं। क्योंकि जीवन में मेरी साध केवल व्यक्तिगत जीवन यापन ही नहीं, बल्कि सामाजिक जीवन की पूर्णता है। इसलिए कला से सम्बंध जोड़कर भी मैं कला को केवल व्यक्तिगत संतोष के लिए नहीं समझ सकता। मेरे विचार में कला का उद्देश्य जीवन में पूर्णता की प्राप्ति है।"[6] इस प्रकार आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक शोषण से मुक्ति ही कला का उद्देश्य है। यशपाल कला को उपयोगिता की कसौटी पर ही तौलते हैं। 'कला, कला के लिए' के वे घोर विरोधी हैं। इसलिए कला उनके लिए व्यक्तिगत संतोष के लिए नहीं वरन् समष्टिगत चिंतन के लिए है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यशपाल की कला-धारणा में क्रमिक विकास हुआ है। वे आवेग को कला का चरम विकास मानकर चले और ज्यों ही उन्होंने कला में विचार का संबल दिया उनकी कला का आवेग दृढ़ता में बदल गया तथा परिस्थितियां बदलने के साथ-साथ परंपरागत धारणाएं भी बदलने लगीं। कला नि स्वार्थ न रहकर अर्थ के धरातल को छूने लगी, लेकिन अर्थ के लिए कला को बिकने नहीं दिया। 'कलाकार की आत्महत्या' तक आते-आते यशपाल की कला ने अपना एक ठोस व्यक्तित्व बना दिया, उनकी कला दूसरों का शोषण करने के लिए नहीं बल्कि शोषण के विरोध और अधिकार सम्मत मानवता की स्थापना के लिए प्रतिबद्ध है।

अपनी रचना-प्रक्रिया के संबंध में यशपाल का कहना है—"अंतःप्रेरणा और अनुभूति इन दोनों चीजों को मैं अपने नित्य जीवन से पृथक् अनुभव नहीं करता हूं। मैं अनुभव करता हूं कि अमुक प्रश्न उठाया जाना चाहिए अथवा अमुक समस्या की ओर ध्यान देना चाहिए··· और मैं अपने साथियों, अपने समाज को वह बात सुनने या सुनाने की आवश्यकता अनुभव कर लिखना ज़रूरी समझता हूं।।"[7] इस प्रकार यशपाल मानते हैं कि विचार अध्ययन-साधित होते

हैं। वे कहीं भीतर छिपे रहते हैं। अनुभूत सत्य उन्हें जगाता है और कला के माध्यम से उन्हें व्यक्त करता है। यशपाल के लिए 'विचार' और 'तर्क' पर्याय हैं। लिखने की प्रेरणा कैसे मिली ? इस संदर्भ में उनका कहना है, "मैं जेल से रिहा किया गया, जीविका के लिए लेखन का व्यवसाय अपनाया। इसके दो कारण थे। एक कारण यह था कि तीन बरस फरारी और छः बरस जेल काटने के बाद रिहा हुआ तो स्वयं को किसी अन्य व्यवसाय के योग्य न समझा और मूल कारण शायद सत्रह-अठारह की उमर में लिया गया निर्णय था।"[8] जेल से रिहाई होने पर यशपाल से एक पत्रकार ने प्रश्न किया था कि बदली हुई परिस्थितियों में उनका क्या लक्ष्य रहेगा और कैसा व्यवहार होगा ? यशपाल का उत्तर था—"जो काम पहले बुलेट (शस्त्रों) से करने का इरादा था, उसे अब बुलेटिन (साहित्य) से करूंगा।"[9]

लिखते कैसे हैं ? इस विषय में उनका कहना है, "जिन भावनाओं को सुंदर अर्थात्—समाजोपयोगी और कल्याणकारी समझाता हूं उनके प्रोत्साहन के लिए अभिव्यक्ति की प्रेरणा अनुभव करता हूं। और समाज को प्रेरणा देना चाहता हूं।···मैं जिन मान्यताओं के समर्थन में अथवा विरोध में प्रेरणा उत्पन्न करना चाहता हूं, उनके अनुकूल घटना की कल्पना कर लेता हूं।"[10] यशपाल के प्रेरणा स्रोत अक्सर चुनौतियां हुआ करती थीं। ये चुनौतियां किसी व्यक्ति या कर्म की नहीं, बल्कि रचना-शीलता और वैचारिकता की होती हैं।

अपनी रचना-प्रक्रिया का विश्लेषण करते हुए यशपाल कहते हैं, "मेरे लिए विषय मुख्य रहता है। पात्र उसके अनुरूप मैं गढ़ लेता हूं। पात्र को लेकर कहानी बनाने का यत्न में नहीं करता। ऐसा करने से मेरे विचार में रचना कहानी के बजाय शब्द-चित्र बन जाती है।"[11] यहां विचार और विषय में पार्थक्य भी ध्यान देने योग्य हैं। विचार एक शुद्ध-मानसिक स्थिति है जबकि विषय एक वस्तुगत (Objective) स्थिति; जिसमें वाणी जीवन से यथार्थ रूप से जुड़ी रहती है।

इस प्रकार यशपाल की रचना-प्रक्रिया का रहस्य परिस्थितियों के अनुसार अभिव्यक्ति के योग्य विचारों को चुन लेना और उनकी अभिव्यक्ति के योग्य कथानक की कल्पना कर लेना है। उस कथानक को विश्वसनीय बना सकने योग्य पात्रों की कल्पना कर लेना तथा उस बंदिश को पूर्ण क्लाइमैक्स की झंकार तक निबाह देना, जिससे कि विचार बिना कहे स्पष्ट हो जाए।

यशपाल ने साहित्य-सृजन के सम्मुख समाज के विकास का कोरा आदर्श ही नहीं रखा, वरन् उस आदर्श को प्राप्त करने की यथोचित कार्य-प्रणाली भी निर्मित की है। साहित्य द्वारा वे समाज को एक विशिष्ट दिशा में चलाना चाहते हैं, कोरे मनोरंजन अथवा सौंदर्य-सृष्टि में ही इसकी इति नहीं मानते। यशपाल के चिंतन की उग्रता के संयोग का परिणाम यह हुआ कि उन्होंने साहित्य की श्रेष्ठता का मूल्यांकन इसकी सोद्देश्यता के अनुरूप ही किया है।

"साहित्य भौतिक जीवन का साधन नहीं, सूक्ष्म मानसिक सुख का साधन और स्रोत है। साहित्य का साधन सूक्ष्म कल्पना है। साहित्य का संबंध जीवन से है। सौंदर्य का सुख कल्पना द्वारा भी लिया जाता है।"[12] यशपाल साहित्य का संबंध जीवन से मानते हैं परंतु साथ ही यह भी मानते हैं कि उसमें कल्पना का भी पुट होना चाहिए, पर वह कल्पना ऐसी होनी चाहिए कि वह यथार्थ जान पड़े। यानी कल्पना मनुष्य के ज्ञान से स्वतंत्र नहीं हो सकती। यशपाल का विचार है कि जब तक कल्पना मन के अंदर रहेगी वह साहित्य नहीं बन सकती। साहित्य बन सकने के लिए भावना अथवा कल्पना का बहिर्मुखी होकर अभिव्यक्त होना और

उद्गाता के मन से प्रकट होकर श्रोताजन व पाठकजन तक पहुंचना आवश्यक है। अर्थात् भावनाएं और कल्पनाएं व्यक्तिगत रहने की अवस्था में साहित्य नहीं बन सकतीं। वे सामाजिक हो जाने पर लोगों के संपर्क में आने पर ही साहित्य बन सकती हैं। अतः साहित्य के निर्माण की प्रक्रिया ही विचारों, भावनाओं और कल्पनाओं का जनसंपर्क में आना है।

"साहित्य समाज का दर्पण है"[13]—अभिप्राय यह कि साहित्य समाज की भावनाओं, महत्वाकांक्षाओं और व्याकुलताओं की अभिव्यक्ति होता है। हम और हमारा समाज जैसा है, हीन या श्रेष्ठ, तो वैसा ही हमारा साहित्य होगा। वही हमारी अनुभूतियों को सन्तुष्ट करेगा।

यशपाल अपनी समस्त रचनाओं को सोद्देश्य और सप्रयोजन मानते हैं। साहित्य के उद्देश्य को 'स्वांतः सुखाय' न मानकर समाज हिताय मानते हैं। उनका कथन है कि सौंदर्य पदार्थ में ही समाहित रहता है, वह पदार्थ का ही गुण होता है। इसी प्रकार समाज से पृथक् साहित्य का कोई अस्तित्व नहीं हो सकता। साहित्य समाज का एक गुण है। इस गुण की प्राप्ति और वृद्धि का यत्न जीवन को सार्थक और समृद्ध बनाने के लिए ही किया जाता है। इसलिए साहित्य की आराधना बिना प्रयोजन के नहीं हो सकती।

यशपाल का मानना है कि आधुनिक परिस्थितियों में समाज के लिए विकास के अवसर देने वाली सत्य और न्याय की धारणाओं का समर्थन करना तथा समाज के विकास के मार्ग में आने वाली अंधविश्वासपूर्ण रूढ़िवादी अड़चनों को दूर करना प्रगतिशील साहित्य का काम है। इसका ध्येय समाज को शोषण के बंधन से मुक्त करना और प्रगतिशील क्रांतिकारी सर्वहारा श्रेणी का सबल साधन बनाना है। प्रगतिशील साहित्य मानवता की भौतिक और मानसिक समृद्धि के रचनात्मक कार्य के लिए प्रेरणा देता है। इस प्रकार प्रगतिशील साहित्य सर्वसाधारण के लिए जीवन के अवसर की मांग करता है। वह समाज के किसी भी व्यक्ति को, वह चाहे पूंजीपति हो या मजदूर, जीवन के साधनों से वंचित नहीं रहने देना चाहता।

प्रेमचंदोत्तर उपन्यासकारों में अपनी विशिष्ट विचारधारा, ईमानदारी और सर्जनात्मक शक्ति के कारण यशपाल ने स्वतंत्र व्यक्तित्व बनाया है। प्रेमचंद के पश्चात् यशपाल ही दूसरे क्रांतिकारी उपन्यासकार हैं। उन्होंने सामाजिक, राजनीतिक परिवर्तन को लोगों की आशा-आकांक्षाओं से जोड़ते हुए हिंदी उपन्यास की विद्रोही चेतना को आगे बढ़ाया है। यशपाल ने अनेक उपन्यासों 'दादा कामरेड', 'देशद्रोही', 'दिव्या', 'पार्टी कामरेड', 'मनुष्य के रूप', 'अमिता', 'झूठा-सच', 'बारह घंटे' आदि की रचना की है। 'झूठा-सच' उपन्यास उनकी सशक्त लेखन कला का परिचायक है। यशपाल साहित्य-सृजन में निरंतर गतिशील और तन्मय रहे हैं। हिंदी में उनके किसी समसामयिक साहित्यकार ने इतना अधिक नहीं लिखा। उन्होंने थोड़े समय में ही जितनी रचनाएं दीं, वे किसी भी उच्च कोटि के कलाकार के यश के लिए पर्याप्त हैं और प्रेमचंद के पश्चात् सही मायने में यशपाल ही उनका प्रतिनिधित्व करते हैं।

यशपाल का कहना है कि उपन्यास लिखने में उनका अभिप्राय यह स्पष्ट करना है कि मनुष्य-समाज परंपरागत विचारधाराओं का दास नहीं है बल्कि वह अपनी विचारधारा का स्रष्टा है। समाज के जीवन में प्रायः घटने वाली घटनाओं को उपन्यास के परीक्षण-पात्र में रखकर वह यह दिखाना चाहते हैं कि किस प्रकार इन घटनाओं से हमारी विचारधारा में परिवर्तन आ जाता है। उपन्यास के रूप में सामाजिक घटनाओं का विश्लेषण करने में उनका प्रयोजन यह है कि समाज की विचारधारा और आदर्श, समाज के जीवन को बांधकर उसे पंगु

बना देने वाली शृंखला नहीं बल्कि समाज की आर्थिक और भौतिक परिस्थितियों से पैदा हुई समाज की सूझ है। जो समाज को अपनी बदलती हुई परिस्थितियों के अनुकूल अपना जीवन सुविधा से ढाल सकने में सहायता देती है।

यशपाल ने अपने उपन्यासों में मानव-जीवन के राजनैनिक पहलू पर सबसे अधिक जोर दिया है और एक विशिष्ट राजनैतिक दर्शन के अनुरूप भारतीय जन-जीवन की सामाजिक एवं आर्थिक समस्याओं का विश्लेषण करने का प्रयास किया है। यशपाल द्वारा विशिष्ट राजनैतिक चिंतन के अनुरूप मानव-जीवन की सर्वथा नये पहलू से व्याख्या प्रस्तुत करने का परिणाम है कि उन्होंने उपन्यास रचना में नये दृष्टिकोण और नई सामग्री का समावेश कर हिंदी उपन्यास साहित्य के विकास की नई दिशा प्रशस्त की है।

कहानी को लेकर यशपाल के विचार हैं, "कहानी की सफलता की कसौटी समाज या पाठकों को रिझा सकना, उद्वेलित कर सकना है।"[14] अतः इस परख से कहानी का प्रयोजन समाज की रीझ या मनोरंजन ही जान पड़ता है। लेकिन समाज को मनोरंजन का संतोष देने के साथ-साथ यशपाल ने उसका उद्देश्य समाज को सचेत कर सकना भी माना है।

यशपाल का कहना है, "कहानी से रस मिलने का कारण श्रोता या पाठक का कहानी के पात्र के जीवन और व्यवहार के प्रति कौतूहल और उत्सुकता है। यदि कहानी से रस मिलने और कहानी कहने की इच्छा के संबंध में मंतव्य को अंशतः भी स्वीकार किया जा सकता है तो कहानी मूलतः एक सामाजिक वस्तु हो जाती है।"[15] तात्पर्य यह कि यशपाल ने कहानी को सामाजिक वस्तु के रूप स्थापित किया है और कहानी के कथारस के उद्देश्यपूर्ण सामाजिक उपयोग पर बल दिया है।

यशपाल का एक अन्य कथन है—"कहानी द्वारा मनुष्य मानव समाज के रूप में अपनी समस्याओं में रुचि लेकर उनका चिंतन करता है। कथाकार का प्रयत्न इस प्रकार के चिंतन और विचार की प्रक्रिया को रुचिकर बना सकने का यत्न होता है।"[16] अभिप्राय यह कि कहानी के द्वारा मनुष्य अपनी समस्याओं के चिंतन को रोचक और सुबोध बनाने के लिए कल्पना की सृष्टि करता है। अतः यशपाल चिंतक तथा विचारक पहले हैं और कहानीकार बाद में।

नई कहानी के संदर्भ में यशपाल का कहना है कि आज कहानी के संबंध में लेखकों और पाठकों की परख वहुत गहरी और व्यापक हो रही है। नये-नये विचार सामने आ रहे हैं। आज की कहानी नित नई शिल्प-विधाओं और विषय-वस्तुओं को समेटती जा रही है। इसमें संकेत से कहने की शैली आ रही है। यशपाल के अनुसार—"कहानी की सफलता उसकी नवीनता में ही होती है। नई कहानी अधिक सफल होनी चाहिए, ऐसा होना स्वाभाविक है, क्योंकि मनुष्य नित्य बदलता, नया होता रहता है। मनुष्य में आने वाला नित्य नयापन उसके स्थूल शरीर और व्यवहारों में वहुत धीरे-धीरे आता है। नयापन सबसे पहले आता है। मनुष्य के विचारों में जिसे हम युगबोध कहते हैं।"[17] अतः यशपाल मानते हैं कि कहानी में नयापन लाने के लिए पहले विचारों में नयापन आना चाहिए। वे कहानी में नयापन लाने का सबसे सुलभ उपाय कहानी से नये विचारों या नई दृष्टि की ध्वनि और अभिव्यक्ति करना मानते हैं।

प्रेमचंद ने अपने अंतिम वर्षों में अपनी रचनाओं में जिस सामाजिक यथार्थ को विना आदर्शवादिता का लबादा उठाए प्रस्तुत किया है, यशपाल ने उसी आधार पर विषमता और

शोषण के विरुद्ध चेतना जगाने, आवाज उठाने और संघर्ष करने का भाव जागृत करने का प्रयास किया है। यह प्रगति चेतना ही यशपाल को अपने समकालीन कहानीकारों में विशिष्ट स्थान पर प्रतिष्ठित करती है। यशपाल ने सामाजिक-राजनैतिक चेतना के ऊंचे धरातल पर अपनी कहानियों को उठाकर मार्क्सवादी दृष्टि से अपने जीवन की असंगतियों को तार-तार खोला है और अस्वस्थ मान्यताओं, प्राणशक्ति से विहीन विश्वासों एवं धारणाओं पर कड़ा व्यंग्य करते हुए अपनी साहित्यिक प्रतिबद्धता को रेखांकित किया है। नैतिक मूल्यों का उत्कर्ष और विकृतियों का नाश उनके साहित्य का परम उद्देश्य है।

यशपाल का साहित्य अपने चित्रण में जन-जीवन का सत्य बनकर उपस्थित हुआ है कवि पंत ने भी एक जगह कहा है कि 'सत्य नहीं वह, जनता से जो नहीं प्राण संबंधित।' अतः यशपाल के कथा-साहित्य में अभिव्यक्त यथार्थ व्यापक विस्तृत और संगत है इसलिए वह ग्राह्य तथा उपादेय है।

समीक्षक यशपाल जीवन को निरपेक्ष रूप में नहीं देखते, वे उसके पूर्वापर संबंधों, मानवीय जटिलताओं, द्वन्द्व भरी स्थितियों को उजागर करते हैं और उसे उसकी समग्रता में पाना चाहते हैं। इसलिए उनकी रचना-दृष्टि फार्मूलाबद्ध होकर नहीं रह जाती और समाज व जीवन से लगातार सरोकार रखने के कारण वे आखिरी दम तक अपनी बात कहते रह सके हैं। यद्यपि प्रेमचंद का साहित्य-संबंधी दृष्टिकोण प्रगतिशील रहा, किंतु यशपाल ने अपने साहित्य द्वारा जो दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है उसे देखकर कहा जा सकता है कि आज तक के हिंदी कथाकारों में यशपाल का प्रगतिशील चिंतन सर्वाधिक सशक्त एवं स्पष्ट है।

यशपाल प्रतिबद्ध लेखन के पक्षधर हैं यही प्रतिबद्धता इनकी समीक्षा-दृष्टि में देखी जा सकती है। वह समानता, समता, समाजवाद आदि के विरोध में पड़ने वाले धर्म, सांस्कृतिक रूढ़ि आदि की कड़ी भर्त्सना करते हैं। यशपाल की रचना में जीवन और उसकी वास्तविकता का सीधा अनुवाद नहीं होता। वे अपनी रचनाओं में अपने समग्र व्यक्तित्व के साथ उपस्थित हैं। इसलिए वह एक ऐसे महत्त्वपूर्ण मोड़ पर मौजूद हैं जहां से यथार्थ के नये-नये रास्तों की शुरुआत होती है।

[सांध्य महाविद्यालय, शिमला-171001]

संदर्भ ग्रंथ

1. यशपाल—'वो दुनिया' की भूमिका, पृ० 5, 2. चक्कर क्लब, पृ० 23, 3. फूलों का कुर्ता, पृ० 36,
4. "सौंदर्य और कला शौक की चीजें ठहरी। पहले जिंदगी, तब शौक।" यशपाल, उत्तराधिकारी,
5. देशद्रोही—पृ० 5, 6. दादा कामरेड की भूमिका, पृ० 5, 7. देखा, सोचा, समझा, पृ०, 93-94,
8. साप्ताहिक हिन्दुस्तान—नवंबर, 1974, 9. वही
10. डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल—आधुनिक हिंदी कहानी (जैनेन्द्र से नई कहानी तक), पृ० 88
11. कहानी 'वार्षिकांक'—1955, पृ० 390, 12. देशद्रोही, पृ० 6, 13. नई कहानियां—अक्तूबर, 1962, पृ० 125, 14. यशपाल—मेरी प्रिय कहानियां, पृ० 6, 15. वही—चित्र का शीर्षक, पृ० 6,
16. वही—ओ भैरवी, पृ० 5, 17. नई कहानियां—जनवरी 1963, पृ० 128

कहानी

कालू

□ श्रीनिवास जोशी

इससे पहले कि पश्चिम में फैली पहाड़ी सूरज को निगल ले, वे सब धूप का पीछा करतीं घर के बाहर बने दालान में बैठ ढलती किरणों का स्वाद लेने लगीं। वे सब—यानि, जेठानी, देवरानी, ननद आदि—जो एक छत के तले रहते हुए भी अलग-अलग चूल्हों की दाल खातीं हैं। दूर-दूर रखे बर्तन खनकते नहीं, इसलिए उनमें आपसी स्नेह बना हुआ है। सीमेंटी दालान से जुड़ी गुलदावरी की कतार उनके चूल्हे चौके के दुखड़े से लेकर दूरदर्शन के धारावाहिकों पर टिप्पणी हर शाम सुनने की आदी-सी हो गई हैं। शहर और गांव को जोड़ती कच्ची सड़क इस दालान से सटी है। इसलिए यहां बैठकर ये सब अपने-अपने बच्चों को स्कूल से वापस लौटते भी दूर से ही देख लेतीं हैं।

—वह देखो ! रिंकी और पिंकी आ रहे हैं।

—पिंकी तो सवेरे कुछ खाकर भी नहीं गई थी। मैंने एक परांठा स्कूल को ही रख दिया था। पता नहीं खाया होगा या नहीं।

—भाभी, तुमने वह सीरियल देखा था न जो बच्चों की स्कूली ज़िंदगी पर था। लंच टाइम में खाने बैठते हैं तो टीचर भी अपना टिफ़िन लेकर उन्हें जॉयन कर लेती है। अच्छा था न !

भाभी कोई उत्तर देतीं, इससे पूर्व उनकी नज़र गांव के निचले मकान में रहते पिन्तु पर जा टिकी, जो पीठ में बस्ता लटकाए 'टिन्ड फ़ूड' के एक खाली डिब्बे को फुटबॉल की तरह अपने नये खरीदे जूते से किक लगाता नीचे को लुढ़काए चला आ रहा है।

—पिन्तु ! तू अकेला आ रहा है ! पुन्नु नहीं आया तेरे साथ ? और देख, कितनी मुश्किल से कमाते हैं तेरे पिताजी। तू नये जूते से टीन को ठोकरें मारता आ रहा है।

स्कूल के रजिस्टर के पीताम्बर सिंह और गांव के पिन्तु ने इस सीख पर ध्यान न देते हुए घर की ओर दौड़ लगा दी।

—पुन्नु, पता नहीं, क्यों नहीं आया अभी तक ! भाभी ने अपने से ही बात कर ली।

—आ जाएगा। कुछ खेलने लग गया होगा स्कूल में। अच्छा देखो ये चार घर सीधे लेने हैं न इस सिलाई में और फिर तीन उल्टे।

—हां ठीक है। अरे, मैं तो तुमको बताना ही भूल गई। चंडीगढ़ में 19 सैक्टर की रेहड़ी मार्केट में बड़ी सस्ती और अच्छी ऊन आई हुई है। मैं ले आती पर हम तो पैसे लेकर ही नहीं गए थे। सरिता से मांगना मैंने ठीक नहीं समझा।

Hira Lal Thakur
BADAH P.o. MOHAL
KULLU-175126 H.P.

—अच्छा मैं कहूंगी इनसे, कोई चंडीगढ़ जाने वाला हो तो ऊन मंगवा देगा।

—भाई साहब के ऑफ़िस से तो इतने लोग जाते रहते हैं, उनसे क्यों नहीं मंगवा लेतीं ? तुम।

—ऊन ख़रीदने तो ख़ुद ही जाना चाहिए ।। चॉयस तो अपनी ही होनी चाहिए न।

—हां, यह तो ठीक कहा तुमने।

—वह देखो, पुन्नु आ गया मम्मी। कोट के पल्लू में कुछ छुपाकर भी ला रहा है।

—अब जाने कौनसी मुसीबत ले आया। पहले वह जिनी को उठा लाया था। नाक में दम कर दिया था। गाड़ी में ले जाकर सेंट बीड्ज़ के मोड़ में छोड़ा था।

—वाह, सेंट बीड्ज़ ही क्यों चुना तुमने ? माई अल्मा मेटर !

—दूध पिलाया जानवर—चाहे एक महीना ही रही हो हमारे पास। कुछ तो दया होती है न। मैंने सोचा किसी नन की नज़र पड़ जाएगी तो बेचारी की देख-भाल हो जाएगी।

—थ्री चीयर्स फ़ॉर मम्मी ! हिप हिप हुर्रे ! आइए पुनीतजी ! आज क्या दबा लाए कोट में।

—कुछ नहीं।

कुछ नहीं क्या ? यह कोट का लेपल यूं ही दबोच रखा है हाथ से। दिखा तो, अरे मम्मी, आज फिर एक पिल्ला ले आया ये।

—तेरी तो मति में पत्थर पड़ गए हैं। धौ छुड़ानी हुई वह जिनी, अब एक और ले आया।

—आप ही ने तो कहा था कि कुत्ता होता तो रख लेते। यह कुत्ता है।

—बड़ा आया जानकार ! तुझे कैसे पता कि यह छोटा-सा पिल्ला कुत्ता है ?

—इसके साथ एक और पिल्ला था। वह बड़ा ख़ूबसूरत था, जिनी जैसा। वह शी-डॉग होगी। यह तो काला है, बिल्कुल काला। देखो।

—छिः छिः यह क्या उठा लाया ? कालू ! जा छोड़ के आ अभी।

—इसको भूख लगी है चाचीजी। लक्कड़ बाजार में जो पंजाब से आए दूध के टीन ट्रक से उतरते हैं न, उनमें एक से धार-सी चू रही थी, उसे चाट रहा था बेचारा। इसको थोड़ा-सा दूध दे दो न मम्मी।

—और क्या है मेरे ! सात रुपए किलो का दूध अब कुत्ते को पिलाओ।

— यह कौन-सा ज़्यादा दूध पी लेगा ? मेरा एक वक्त का दूध बंद कर देना।

— दूध की भी ऐसी कोई बात नहीं पुन्नु, पर कुत्ता पालो तो कुछ शक्ल-सूरत तो हो न। यह क्या कुत्ता हुआ जिसकी न जात, न शक्ल।

— नहीं चाचीजी, इसकी जात अच्छी है। मेरे साथ विनीत गुप्ता आ रहा था, उसने भी कहा यह अच्छा कुत्ता है, इसे तू घर ले जा।

— वह विनीत क्यों नहीं ले गया उसे अपने घर ?

—उसके पापा उसे ठोकते हैं।

—और तेरे पापा ? आने दे तू उनको टूर से वापस। न बताई तेरी कारस्तानी तो देखना। बताना क्या मैंने, ख़ुद ही देख लेंगे।

—मेरे पापा ठोकते तो नहीं हैं। कुछ देर डांटेंगे फिर कहेंगे, "जो तुम्हारी गर्ज़ी आए,

करो।"

—बस ! इसी से तो सिर चढ़े हुए हो तुम लोग।

—हाए देखो देखो ! कैसे देख रहा है कालू ? चो च्वीट (So Sweet)। चल पुन्नु ! मैं देती हूं इसे दूध।

—तूने इसे कानों से उठाकर देखा था ? चूं-चूं तो नहीं करता ?

—दीदी ! यह फ़ैलेसी है। कानों से उठाकर जात नहीं पता चलती। शम्भु की जिप्सी है न, वह प्योर एप्सो है, पर कानों से उठाओ तो चूं-चूं करती है।

—मैं पूछ रही हूं कि यह करता है या नहीं ?

—यह तो करता है। मैंने लक्कड़ बाज़ार में ही देख लिया था।

—फिर भी तू ले आया इसे ?

—हां ले आया। और यह यहीं रहेगा।

घर में नए प्राणी के आने का समाचार सब सच्चों को अपनी-जपनी माताओं से जब मिला तो पुन्नु भैया के कमरे में रिंकी, पिंकी, बबलू, रेखा, स्वाति सब का जमघट लग गया। कालू एक कोने में दुबका, इन्हें टुकुर टुकुर निहार रहा है। जमघट की उत्सुकता में कई प्रश्न उठे :

—भैया, यह किसके साथ सोएगा ?

—यह गोरा क्यों नहीं है ?

—यह पॉटी कहां करेगा ?

—यह मीट खाता है या नहीं ?

—अब हमारे घर ही रहेगा यह ?

—यह प्यारा-सा है न ?

—नहीं प्यारा नहीं है। काला है, गंदा है। ऐसा मम्मी भी कह रहीं थीं।

इन सवालों में से कुछ के जवाब देता और कुछ को अनसुना करता पुनीत कालू के लिए उसकी रिहाईश तैयार करता रहा। एक छोटे से मूढ़े को उल्टा कर उसमें पुरानी चादर, फटा कंबल बिछा दिया। इस बिछौने में कालू को सम्हाल कर रख दिया। अब कालू गुड़मुड़ लेट गया है।

यह पापा के दौरे से वापस लौटने वाली शाम है। पुन्नु विचलित है। जानता है कि बेहद डांट पड़ेगी। सीमेंटी दालान की मंडली के पास दो-चार बार हो आया है :

—मैं क्या करता मम्मी ! बेचारा भूखा था। अगर ट्रक या बस के पहिए के नीचे आ जाता तो मर जाता।

—तू क्या आवारा कुत्तों की सम्हाल का ठेकेदार लगा हुआ है जो यहां-वहां से पिल्ले पकड़कर घर ले आता है ?

—वह ज़िनी रोज हमारे पायदान में पॉटी कर जाती थी।

—और मैं गोभी के पौधे लगाती थी तो उन्हें ज़मीन से ही खोद देती थी।

—इनके कमरे में रखी एक कवि की किताब ही फाड़ दी उसने। यह कह भी रहे थे कि इतनी किताबें थीं वहां, इसे फाड़ने को भी कविता की ही पुस्तक मिली।

ज़िनी की बात क्यों करने लगे अब ? यह कालू तो सीधा है बेचारा।

—अभी तो एक महीने का भी नहीं होगा यह। बड़ा होने दे, तब बताएगा यह ढटुआ !

— ढटुआ क्या हुआ ?

—ढटुआ हुआ तेरा सिर !

मैं बताती हूं पुन्नु। ढटुआ वह कुत्ता होता है जिसकी शक्ल-सूरत तो कुछ हो नहीं और जात-नस्ल गीदड़-गूहड़ से मिलती हो।

—अच्छा, अच्छा, रहने दे। कितना प्यारा है कालू !—कहकर पुन्नु चला गया क्योंकि वह जान गया था कि पापा के आने पर डांट उसे सहनी पड़ेगी। कहीं से भी कोई सहारा नहीं मिलेगा। और फिर झड़ी लग ही गई—"घर को चिड़ियाघर बना रखा है। सड़क में जो जानवर चल रहा है, यहां पलेगा। यह पुन्नु का कुत्ता है, यह पिन्तु का बिल्ला है, यह खड़ेची का बैल है, यह कौवे की रोटी है, यह चिड़ियों के चावल हैं—पता नहीं क्या हो गया है। कहां तो पढ़ने-लिखने में मन लगाते ! कम्पीटीशन का ज़माना है। एक नंबर की कमी से बच्चों को कॉलेजों में जगह नहीं मिल रही है। यहां चले हैं कुत्ता पालने ! घर में जानवर आ गया तो पल थोड़े ही जाता है। समय पर सैर कराना, रोटी देना, नहलाना, धुलाना, सुलाना—सब कुछ करना पड़ता है। यह तो अमीर घरों के चोंचले हैं। उनका काम नौकर करते हैं, वे कुत्ते का काम करते हैं। फिर कुता जैसा कुत्ता हो तो बात है—न सिर, कान, नाक का पता—मटमैला-सा काला रंग, जैसे···जैसे···जैसे···

—ढटुआ कह दो न।

—हां, ढटुआ।

—मैं भी तो यही समझा रही थी इसे। अब यह मानता ही नहीं तो मैं क्या करूं।

—पुन्नु ! कल इसको वहीं छोड़ आना जहां से लाया है इसे।

पापा के आदेश के बावजूद कालू घर में बना रहा। सीमेंटी दालान की मंडली की किसी मानिनी सदस्या से जब वह सिमटकर बैठने का प्रयास करता तो छि:-छि: के साथ उसे झाड़ू दिखा कर या डंडे की हल्की-सी चोट के साथ भगा दिया जाता।

'आदमी के सात दिन और कुत्ते का एक दिन'—सचमुच कालू दो महीने में ही खूब उभर आया। इन दो महीनों में भी कालू केवल पुन्नु और कुछ छोटे बच्चों की पुचकार ही अपने प्रति समेट सका है। रिंकी उसे अपने हिस्से की डबल-रोटी में से आधी खिला जाती है; बबलू 'चिप्स' दे जाता और बच्चे भी अपना टिफिन उसके साथ बांटते हैं। छोटी स्वाति तो अपना लॉलीपॉप भी उसे चुसा जाती है। पुन्नु शाम-सवेरे उसे घुमाने ले जाता है। कालू को बाहर जाने की आदत उसने डलवा दी है। पर कभी कभार घर की चार-दीवारी के भीतर गंदा कर दे तो पुन्नु कालू को मार पड़ने से पहले ही उसे साफ़ कर देता है। रात को अगर वह भौंकने लगता है तो पुन्नु उसे झट से अपनी रज़ाई के अंदर छिपा लेता है ताकि घर में औरों की नींद में बाधा न पड़े।

गांव के सामने वाले घर से सीलवती काफी दिनों बाद आई और बोली, "पुन्नु की मां ! यह काला जबरा कुत्ता तो मैंने ले जाना है।"

—सच, तू कल ही ले जाती, अभी ले जा इसे। पुन्नु के स्कूल से लौटने से पहले।

—न, न जी। आने दो उसको। उसी से बोलना, वह छोड़ जाएगा।

—तू क्या करेगी इसका ?

—चाहिए पड़ता है डंगरो-डुंगरों के साथ। हमारा पहला वाला तो बराग ले गया।

—पुन्नु ने नहीं छोड़ना है यह कुत्ता। उसके पापा ने भी बड़ी डांट लगाई उसे, पर वह नहीं माना।

—न जी, तो मैंने कौन-सा—क्या बोलते उसको—फ़िरी (Free) में ले जाना है। बदले में गद्दी कुत्ता दूंगी। जोड़ा है मैंने मंगवाया हुआ। पर आना तो जब आना।

—ऐसा है, तब तो ठीक है। जब पुन्नु स्कूल से लौटेगा तो मैं समझाऊंगी उसे।

शाम को सीमेंटी दालान की मंडली की चर्चा का मुख्य विषय भी यही रहा। पुन्नु के घर पहुंचते ही पूरी मंडली ने उसे समझाया पर वह इस बात को समझ ही नहीं पाया कि एक कुत्ते को बदलकर दूसरा कुत्ता कैसे लिया जा सकता है।

—नहीं मुझको गद्दी कुत्ता नहीं चाहिए, मेरा कालू ही अच्छा है।

—देख मूर्खता वाली बात न कर। एक ढट्टुआ देकर अच्छी नस्ल का कुत्ता मिल जाएगा।

—तेरा कालू तो पलेगा ही न, उसे छोड़ तो नहीं रहे हम। हमारे घर न पला, सीलवती के घर पल जाएगा।

—यह क्या बात हुई ? आप मुझे सीलवती आंटी के घर भेज दो। मैं वहां पल जाऊंगा, आप उनका बेटा ले आओ।

—अब तेरे से कौन माथा-पच्ची करे। कभी कभार बड़ों की बात सुन लिया कर।

पुन्नु अपनी बात पर अड़ा रहा। तभी पिन्तु स्कूल से घर होकर कपड़े वहां बदल पहुंच गया और बोला, 'पार वालों ने कुत्ता मंगाया है।'

कुत्ता तो भेज देते पर पुन्नु नहीं मान रहा है। तू समझा इसे।

हम उम्र होने और एक ही स्कूल में पढ़ने के कारण पुन्नु ने पिंतु की बात बहुत दुखी मन से मान ली। उसके मान जाने पर वे सब बहुत खुश हुईं। वे सब—यानि मां, ताई, चाची, बूआ, दीदी और 'पुन्नु ! मेरा लाडला'; 'पुन्नु ! मेरा बेटा'; 'पुन्नु ! माई डियर', जैसे छोटे-छोटे अधूरे से वाक्य दालान में एक के बाद एक पुचकारें भरने लगे।

सीलवती का घर सामने दीख पड़ता है और पहाड़ की दूसरी सलवट पर सिर्फ़ दस मिनट की पगडंडी की दूरी पर है। महिलाओं की बुद्धि ने यह तय किया कि कालू को एक बोरे में बंद कर पुन्नु और पिन्तु उसे सीलवती के घर छोड़ आएंगे। यदि चेन से बांधकर ले गए तो कालू रास्ता भांप लेगा और वापस चला आएगा। एक बोरी लाई गई। पुन्नु ने उसमें दो छेद कर दिए ताकि कालू को सांस लेने में कठिनाई न हो और छेदों से हवा आती रहे। एक महिला-बुद्धि की आपत्ति थी कि इन छेदों से भी कालू को रास्ता नज़र आ सकता है। इसका समाधान निकला कि बैंड-एड (Band Aid) की चिप्पियां कालू की आंखों में चिपका दें। इस शृंगार के बाद कालू को बोरे में डाल दिया गया। विदाई के इस दृश्य को देखने घर की महिलाओं के अतिरिक्त बच्चे भी जमा हो गए। जब डोली उठी तो बच्चे चिल्लाए, 'भैया, कालू को मत ले जाओ',…'मम्मी ! मना करो न इन्हें।' मम्मियों ने अपने-अपने बच्चों को घुड़का, 'चुप रहो ! हम दूसरा बढ़िया कुत्ता लाएंगे।' पहले से तैयार रखा टेप तभी दीदी ने छोड़ दिया—'छोड़ बाबुल का घर मोहे पी के नगर आज जाना पड़ा',—सब हंस पड़े।

पुन्नु का दिल तो रो ही रहा था। इस असमय के मज़ाक ने उसके सब्र का बांध तोड़

दिया। वह गुस्से में पलटा, "नहीं ले जाता मैं इसे। मेरा कुत्ता है यह। यहीं रहेगा यह। मैं रोटी नहीं खाऊंगा, दूध नहीं पीऊंगा। मेरे हिस्से का देना इसे, पर यहां से नहीं जाएगा यह अब।" दिल के आंसू अब आंखों से नीचे उतर, गालों में आ गए थे उसके। उधर दीदी अपनी करतूत पर झेंप गई और इधर दालान की मंडली पुन्नु बेटे को दुलार-पुचकार कर समझाने-मनाने में जुट गई।

—मज़ाक क्यों उड़ाती है फिर यह ?

—भाई-बहन में तो ऐसा मज़ाक होता ही है। मैं अभी डांटती हूं इसे।

—जल्दी-जल्दी छोड़ आओ और देखो, वहां बैठना नहीं। बैठोगे तो कालू भी तुम्हारे साथ लौट आएगा।

कालू जब बोरे में बंद पुन्नु की पीठ में सवार होकर चला गया तो मंडली उसके गुण बखानने लगी :

—वैसे एक दिन भी घर गंदा नहीं किया इसने। हमेशा बाहर जाता रहा।

—समझदार इतना कि रसोईघर में कदम नहीं रखता।

—जिनी की तरह का नुकसान भी नहीं किया इसने।

—मेरी गाय के साथ तो इतना हिल-मिल गया था कि घास देने के ठीक समय में मेरे इर्द-गिर्द चक्कर काटने लगता था। मानो बता रहा हो कि गाय को घास देने का समय आ गया है।

—अरे! वह ऊपर से कौन महिला आ रही हैं? जानी पहचानी-सी लगती हैं।

—यहीं को आ रही होंगी या नीचे गांव को तो नहीं जा रहीं।

—इन्होंने सलवार-कमीज़ तो पहनी नहीं है। साड़ी पहनी है—शायद यहीं को आ रही हों।

—ऐसा लगता है यहीं को आ रही हैं।

—अरे, यह तो सरस्वती मासी हैं।

सरस्वती मासी गेट खोल दालान में दाखिल हुईं और जब तक सभी महिलाओं ने उनके पैर छुए, वह बोल उठीं, "धूप का बड़ा आनंद है यहां। गीता में कृष्ण ने यह तो बताया कि वह ऋतुओं में बसंत हैं, मासों में मंगसिर हैं, पर यह नहीं कहा कि सर्दियों में शाम की धूप भी वही हैं।" फिर सरस्वती मासी भी मंडली की सदस्या हो गईं।

सभी उनके अनुभव और ज्ञान से परिचित हैं। सरवस्ती मासी ने घाट-घाट का पानी ही नहीं पिया बल्कि जगह-जगह की गर्द भी फांक रखी है। संस्कृत भाषा और ज्योतिष विद्या का भी वह अच्छा ज्ञान रखतीं हैं। वह किसी ग्रंथ का एक छंद सुनाने लगीं कि पुन्नु कालू को छोड़कर लौटा और सीमेंटी दालान में बैठी मंडली की उपेक्षा करता कमरे को जाने लगा। तभी पीछे से आवाज़ आई, "पुन्नु! सरस्वती मासी आईं हैं। प्रणाम तो कर जा।"

—पुन्नु लौटा, मासी के पांव छुए और फिर उदास मन से अपने कमरे की ओर बढ़ चला।

—रसोई घर में दूध गरम करके रख आई हूं। पी लेना।

—मैंने नहीं पीना है। मैं सो रहा हूं! मेरे लिए खाना भी नहीं बनाना।

—शाम के वक्त कौन सोता है, पुन्नु?

—कह दिया न, मैं सो रहा हूं।

—रूखा-सा उत्तर दे वह भीतर चला गया।

—आज यह बड़ा उदास है।

—क्या हुआ ?

कालू का पूरा प्रसंग फिर मासी को सुनाया जाने लगा। अभी कथा चल ही रही थी कि बैंड-एड की चिप्पियां लगाए दुम हिलाता कालू गेट के बाहर खड़ा चूं-चूं-चूं करने लगा। मंडली ने खूब ज़ोर का ठहाका लगाया। बच्चे ताली बजाकर नाच उठे, 'कालू आ गया; कालू आ गया।' पुन्नू रज़ाई फ़ेंक चारपाई से कूदा। गेट खोला, कालू की आंखों से बैंड एड की चिप्पियां हटाईं। उसे गले से लगाकर ख़ुशी के आंसू बहाने लगा।

मासी ने भी कालू को परखा। छाती के सफ़ेद बाल देखे, नखों को गिना, फिर हाथ जोड़ कर बोल उठीं, "विंशतिनखा ! आहा ! हा" !—

कृष्णवर्णस्य श्वानयं साक्षात् भैरववाहन:

—बीस नखों वाला, काले रंग का श्वान जिसकी छाती में जन्मजात सफ़ेद बाल हों, जिस कुटुम्ब में हो, उस घर-परिवार के लिए शुभ ही शुभ हैं।

पुन्नु की आंखों में विजय की चमक आ गई। और अब कालू दबे पांव मंडली के बीच जा बैठा है। स्नेह-भरे अनेक हाथ उसके काले बालों को सहलाने लगे हैं।

[पंचवटी, भराड़ी, शिमला-171001]

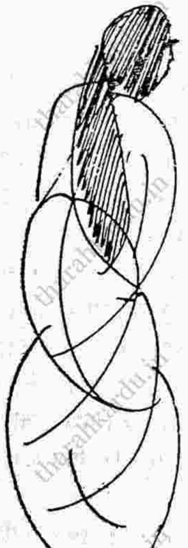

चीजें

□ कांस्टैंटिन तोइयू

सभी खिड़कियां एक जैसी थीं । और वह उन्हें बायीं से दायीं ओर बहुत ध्यान से गिन रहा था कि कहीं ग़लती न हो जाए । उसकी खिड़की, जिस पर सफ़ेद पर्दे लटके थे, पांचवीं थी । जैसा कि उसने बताया था, छः बजे दो अधेड़ महिलायें ब्लॉक के निकट के रास्ते पर से होकर बाहर आईं । वह खिड़की में प्रकट हुई और अपनी उंगली से नीचे की ओर इशारा किया—कि वह अब अकेली है और वह ऊपर आ सकता है । दोनों अधेड़ महिलायें झूलती हुई-सी पटड़ी पर जा रही थीं और उसने उनमें से एक को ध्यानपूर्वक देखा । उनमें ठिगने कद वाली —उस की अपेक्षा से भी अधिक ठिनगी—जो काला हैट पहने हुए थी, उसकी मां थी । वह उससे पहले नहीं मिला था । उसने उसे अब पहली बार देखा था । कितनी हैरानी की बात थी कि बेटी अपनी मां से दुगुनी लम्बी थी, परन्तु फिर भी वे दोनों एक जैसी थीं—कम-से-कम उसने तो यही बताया था । और इसमें शक की कोई गुंजाइश भी नहीं थी क्योंकि उसी ने कहा था कि ठीक छः बजे द्वार में से बाहर आती हुई, काला हैट पहने, ठिगने क़द की महिला, उस की मां होगी।

वे दोनों अचानक ही फ़ोन पर एक-दूसरे से मिले थे—रांग नम्बर के कारण । एक सप्ताह से वे यह जानने को उत्सुक थे कि वे दोनों कैसे दिखते हैं। और फिर उन्होंने तारीख़ निश्चित कर ली थी ।

"मैं तुम्हें कैसे पहचान पाऊंगी ?"

"मैं एक छोटा, गम्भीर तथा बहुत भला व्यक्ति हूं।" उसने कहा था और वह बोली थी कि सोचा जाए तो एक गम्भीर व्यक्ति ही भला हो सकता है और क़द में छोटा भी ।

भविष्य से कहीं अधिक लम्बा अतीत दोनों का था। दोनों ने ही कभी किसी से प्यार नहीं किया था। जब कभी कुछ करने का प्रयास किया, उसमें उन्हें असफलता ही हाथ लगी थी । वे दोनों ही अपनी मांओं के साथ ऐसे जुड़े थे मानो उनके बिना वे पैदा होने का भी शायद साहस न जुटा पाते । और उनके अनिश्चित एवं लम्बे प्रसव ने स्थायी रूप से मांगी थी अधिक देखभाल, सावधानी—तब तक, जब तक कि एक दिन वे अब से भिन्न अस्तित्वों के स्वामी न बन जायें—इच्छाशक्ति, स्फूर्ति, निर्भीकता का पुट लिये ।

निश्चित करने की ग़रज से उसने पुनः खिड़की की ओर देखा । वह पहली बार ये सीढ़ियां चढ़ने जा रहा था । अपनी तर्जनी से उसने अपनी ठोड़ी की ओर इशारा किया । पर्दों के बीच में से वह आश्चर्यचकित हो उसे निहार रही थी । तब उसने अपना सिर हिलाया और

अपने हाथ से वृत बनाकर उसने प्रवेशद्वार समझाया। यद्यपि उसने पहले भी विस्तारपूर्वक उसे रास्ता समझा दिया था। और तब उसका चेहरा अदृश्य हो गया। पर्दे हिलना बन्द हो गये। उस श्वेत निश्चल स्थान के पीछे था एक वचन, जो बहुत दीर्घकाल से उसके आगमन की प्रतीक्षा में था।

साहस बटोर कर उसने गली पार की—ईथर और नेल पॉलिश की गंध में लिपटी। और एक तेज़ गति से गुज़रती कार के कारण वह ठीक बीच में रुक गया। गन्ध को नसिकाओं में संजोए वह फाऊंटेन पैन और चशमों की दुकान के आगे से होकर अंधेरे गलियारे की ओर बढ़ा—दुकान में बहुत से पैन और बहुत सारी ऐनकें सजी थीं। धीरे से वह पिछवाड़े से गुज़रा जहां कचरे के ड्रम पड़े थे। दुर्गन्ध को झेलते हुए उसने देखा एक नोटिस चिपटा है—"लिफ़्ट खराब है।" दीवारों को टटोलता हुआ स्विच की तलाश में वह आगे बढ़ा। उसकी उंगलियों के स्पर्श में आई—पलास्टर की खरोंचें, एक खुरदरी ईंट, एक ठण्डा पाइप, तब एक छोटी-सी खिड़की और लम्बी गोल चीज़—जो अन्तहीन प्रतीत होती थी, और जो निश्चय ही पानी के छिड़काव के लिए लगी थी। उसका हाथ स्विच तक पहुंचा। उसने दबाया परन्तु अंधकार में बेकार चटक कर रह गया वह। उसे छोड़ वह पहला ज़ीना चढ़ आया और ध्यानपूर्वक दूसरे पग की ऊंचाई मापी कि उसने अपना पांव कितना ऊपर उठाना है—वह पांच सीढ़ियां चढ़ गया। और अचानक सीढ़ियां खत्म हो गईं। उसने शून्य में क़दम रखा। टूटे हुए जंगले को पकड़े हुए वह घुमावदार ज़ीना चढ़ते हुए पहली मंजिल पर पहुंच गया। फिर दूसरी मंज़िल। और फिर अकस्मात जंगला ग़ायब हो गया और उसे लगा वह एक गड्ढे की तह में खड़ा है। उसने जंगले की तलाश की, परन्तु उसे ढूंढ़ नहीं पाया। यह युद्ध-क्षेत्र में रात के समय, ठीक लड़ाई के बीच, विश्वासघात जैसा था—एक महा विश्वाघात!—जब शत्रु का मुक़ाबला करने के लिये आपको ही अकेला छोड़ दिया गया हो! वह एक अन्धे व्यक्ति की तरह आगे बढ़ रहा था—सिर पीछे को झुका हुआ—अपने बाज़ू फैलाए हुए— और छोटे-छोटे पग धरता हुआ। यह एक भ्रामिक प्रगति थी, जो उसे पीछे की ओर धकेल रही थी। अन्धकार में टटोलते हुए वह दायीं ओर मुड़ा और अपने पांव के नीचे उसने कुछ किरकिराने का स्वर सुना। अवश्य ही किन्हीं छिपे हुए कांच के टुकड़ों पर वह चल रहा था—और हांफ़ते हुए वह रुक गया। उसे वापस जाना होगा। वह रास्ता खो बैठा था। तब वह बायीं ओर घूमा दीवार को सहसूस करते हुए—फूंक-फूंक कर क़दम रखते हुए। उसका हाथ एक लकड़ी के दरवाज़े से जा लगा जिसके कुण्डे में एक खुला ताला लटक रहा था और जिसके हिलने से हल्की-सी आवाज़ पैदा हुई।

"कौन है?" कोई अन्दर से चिल्लाया। "कौन है?" स्वर ने दोहराया। "कोई नहीं," दूसरे स्वर ने उत्तर दिया, "हवा होगी शायद।" "कोई भी नहीं। हवा होगी," स्वर बोला, "या फिर हमें ऐसा लगा।"

परन्तु घबराहट में वह कभी आगे और कभी पीछे जा रहा था। उसे कल-कल का स्वर सुनाई दिया—एक घने जंगल में नदी के बहने के स्वर जैसा। आवाज़ को सहारा बनाकर वह आगे बढ़ा—उस आवाज़ के स्रोत की ओर। अपनी हथेली उसने नलके के नीचे रख दी जिसमें से एक छोटी ठण्डी धार ढलवा लोहे की चिलमची में बूंद-बूंद बन गिर रही थी। पानी के स्पर्श से उसे थोड़ा ढाढ़स बन्धा। वह अपना रास्ता टटोलते हुए आगे गया। एक अन्य ठण्डे स्थान पर पहुंचा। पीछे हटा। और एक बाल्टी उलट गई—एक झाड़ू गिरा और उसकी जांघ पर आ लगा।

और तब वह वहां से भाग खड़ा हुआ —लड़खड़ाया और सीढ़ियों पर से नीचे लुढ़कने लगा। धूल को झाड़ते हुए वह उठा। बायीं ओर मुड़ा —फिर दायीं। घबराहट में चक्कर काटा। वह उन सीढ़ियों पर पुनः चढ़ा जहां से गिरा था। एक बार फिर ठण्डक को अनुभव किया और अपना हाथ फैलाया। फिर मुड़ा— एक पुराने आले—एक पुराने गिरजाघर के मध्य भाग की न्याई ने उसे अपनी ओर आकर्षित किया। और वह एक कठोर चीज़ से जा टकराया। वह एक शायद लोहे का स्टोव था—स्टोव भी ऐसा जिसमें आग चटख रही थी—शरद् ऋतु में चटखती आग! वह पीछे धकिया दिया गया। घिसे हुए जंगले, घुमावदार सीढ़ी, लिफ़्ट की जाली, कूड़ेदान, फ़ाऊंटेनपैन, चशमे—सभी चीज़े पग-पग पीछे धकेल रही थी उसे।

सौभाग्य से बाहर शाम हो चली थी। जो कुछ देखने योग्य था स्पष्ट दिखाई देता था— इस विचार से उसे कुछ सांत्वना मिली। परन्तु वह कमज़ोरी महसूस कर रहा था। थकावट के कारण खड़ा होना भी कष्टदायक लग रहा था। धीरे से उसने गली पार की, अपने पुराने स्थान पर आया, और अभी तक शांत उन्हीं पर्दों की ओर ताका। "इतना कष्ट !" उसने सोचा। उसके और गंतव्य के बीच सदैव बड़ी अड़चनें आ खड़ी होती थीं। और जब वह अपनी इच्छा के उद्यानों के निकट जाने का प्रयास करता— उनके सुन्दर बेल बूटों के समीप, उनके सेबों के पास, जो छिपे हुए तलाशते सांपों जैसे लगते—वह या तो हांफने लगता या फिर घुटनों के बल गिर पड़ता।

तभी पर्दे हिले और वह खिड़की में दिखाई दी—कुछ क्रोध में मुंह बनाती हुई। खिड़की के पीछे से कुछ चिल्लाती हुई। और उसने फिर उसे बाज़ू से रास्ता समझाया।

अविचल वह उसे ताकता रहा। "यह साला सब फ़रेब है", स्थान छोड़ने से पूर्व वह बुद बुदाया। "यह कोई रास्ता है—?" वह फुसफुसा रहा था—गुस्से में नहीं। उसे कभी क्रोध नहीं आया था—एक संतोष की झलक थीं इसमें—एक सच्चा निष्कपट संतोष—उस व्यक्ति की तरह जो परीक्षा में असफल रहा हो और जिसके लिए उसने अच्छी तैयारी नहीं की थी। पटड़ी के पास पहुंच कर वह उस पर झुका ताकि अपने हृदय की धड़कन को सुन सके—केवल यही उसका अपना था। और उसे लगा कि कुण्डे में अटके ताले की तरह उसका हृदय भी झनझना रहा था—और उसके अन्दर थीं चीज़ें, केवल वस्तुएं—कायरता की किरचें, अवशेष, ठिठुरन जो एक स्वतंत्र, उद्दाम विजयी नदी ने किनारे पर आ पटकी थीं।

अनुवाद : सुरेन्द्र नाथ वर्मा

कविता

दस कविताएँ

□ जितेन्द्र कुमार

स्मृतियाँ

कोई दिन गर ज़िंदगानी और है
अपने जी में हमने ठानी और है।
ग़ालिब

एक

भूलने के लिए

भूलने को भी अब कुछ नहीं बचा
अपना भुखमरा भोजन करके
मैं शाम की तरह शांत हो गया हूँ
पर मुझे रोकनी है अभी धरती
आकाश तुम कुछ देर मेरे साथ रुकना
मेरे पास देखो अब कोई नहीं है।

दो

उन्होंने कहा

उन्होंने कहा : उसमें चुटकी भर नमक होना चाहिए
बस उतना जितना आँसुओं का हो
उन्होंने कहा : शक्कर या ग्लूकोज़ भी उतना ही हो
नहीं तो प्रभाव उल्टा हो जाएगा
दवा ज़हर
पुण्य पाप

—पर वह कौन नहीं चाहता ?

तीन

धीमी गति से

धीमी गति से बहने वाला पानी धीमी गति से बहता है
ऋतु की तरह
सड़क पर चलता हूँ
नदी की तरह रेत के किनारे रहता हूँ,
वह मुझ-सा मन बनने पर सूख भी जाती है

घर आता हूँ और रोज़ की तरह कुछ रचता हूँ
और कहता हूँ : कविता की है !
—पता नहीं किससे···

पर वह पानी ही तो है जो धीमी गति से बहता है।

चार

वह सुदूर स्वार्थी

वह कन्या सुदूर स्वार्थी, जैसे स्वयं स्वभाव : वह सुन्दर है !
वह जो समुद्र-सा अगाध है, जीवन-सा जटिल : वह द्वार है !
निश्चय ही दूसरे की भाषा उधार ले उथले पानी में निहारता हूँ
मैं अपना रूप : वह उसमें डूबा हुआ है।
इन सबसे मिलकर मेरी उम्र बनती है
हताश और मूर्ख (पर इसीलिए इतनी मिलनसार)
मैं जो रचता हूँ, सोचता हूँ, कहता हूँ : छद्म है !
उसमें जीवन सुखद, सपने भयावह होते जाते हैं।
बिस्तर में रात-भर उथल-पुथल मचाकर मैं सोया हूँ अकेला,
इसीलिए सुबह दरगाह पर चढ़ी चादर नज़र आता हूँ।

पाँच

सीधी बातें

सीधी बातों की मुश्किल अपूर्व है
लोग अपने से आगे जाना चाहते हैं
स्वार्थ तो स्वाभाविक है : अंदर तक धंसा हुआ अहम् !

दूसरों के लिए सिद्धांत वाजिब हैं,
उनका भाषा और आदर्श से संबंध है—

थोड़ा बहुत व्यक्ति की आय से;
शब्द : जो अपने अर्थ, निशानों और मिथकों से पाते हैं।
स्वार्थ के अतिरिक्त और किन-किन बातों से परिचालित है जीवन ?
उनका अनुपस्थित रहना क्या इतना आसान है ?
स्वभाव क्या स्वभाव-सा सहज नहीं ?

रात ज़्यादा हो गई है, मैं इस चीखते रेडियो को सुन नहीं रहा हूँ,
अपनी घड़ियाँ गिन रहा हूँ !

छः

अस्मिता

कहाँ गई तुम्हारी अस्मिता ?
कहाँ गए तुम्हारे वे धुले हुए दिन ?
पर्वत की दिशा में जंगल में आग लग गई है
समुद्र के बहुत अंदर से वह आती है, तट पर झाग-झाग होने को आतुर !
फिर जंगल की आग-सी वह आगे बढ़ती है—
पीछे छूटे जंगल को वह राख कर चुकी है।

सामने की पहाड़ी पर सूर्यास्त देखने का रियाज़ करते प्रेमी युगल,
सिसकारी मार कहते हैं : वल्लाह ! वहाँ क्या दीवाली मची हुई है !
—ऐसे वे सहज होते हैं, ऐसे उनका सौंदर्य-बोध बढ़ता है
उसके बाद ही वे संभोगरत होते हैं : प्रेमी युगल !—
जब जंगल की आग से व्याकुल जीव चीखते-चिल्लाते भाग रहे हैं !

हो सकता वे इस कविता को कभी पढ़ें, प्रेमी युगल,
और सहज रहे आएँ !

सात

वह कन्या

वह कन्या सुघड़ सलोनी
मैं हमेशा अपने से हार जाता हूँ

चलते वक्त उसके बाल उसके नितम्बों पर लहराते
हवा उनके साथ-साथ डोलती
सूर्य-किरणें उसके चमकीले बालों से ही अपना प्रकाश पाती थीं,

धरती से आकाश तक एक नौका हवा की पंखुरियों पर डोल रही है।
जाड़े की सुखमय धूप-सी उसकी आँखें होती हैं
जब प्रकाश देख वह मेरी ओर बढ़ती है: उसके स्वयं उसका लावण्य है!

कौन कह सकता था वह हरित-आभा वाली लड़की
अपने उज्ज्वल अंग से कामुकता के ऐसे संगीत पर सवार होगी
कि वस्त्र स्वयं उसके अंगों से ढरक जाएँगे!—एक सिहरन-सा
वह उसके टख़नों से उठ इस तरह उसका पान करेगा,
जैसे उस रोज़ के बाद उसका जीवन स्थगित होने वाला हो।
कामुकता के उस अनुपम-अनुराग में वह अपने अंगों में दृढ़
एक मूर्ति, फिर प्रकट होगी।
उसकी उन मुद्राओं को उसी कठोरता में गढ़ने वाले कलाकारों ने
पानी के घड़े और दो जून के खाने के बदले, पहले उसकी कल्पना की
फिर मंदिर की शिला पर उकेर कर उसे ईश्वर को दे दिया।
एक हिंदू भोग का नहीं, अर्चना का आदी होता है।
इसलिए जब तुम भूल सको तुम मनुष्य हो, तुम आना!

आठ

पानी की स्थिरता (गद्य)

पानी की स्थिरता एक खुशनुमा हरकत है, केवल उसी में छपाक होने से लहर अपने से अपने में, एक दायरा बनाती अनन्त दूरियों तक जाती है। ऐसा ही स्त्री का धैर्य, पुरुष की रिक्तता, समय का एकांत है! इतिहास फिर उसमें अपनी किरणें बिखेर जाता है, वे फिर अगले समयों तक धीरे-धीरे लौट कर आती हैं; और मूर्ख कहते हैं समय अपने को दुहराता है, जबकि वह केवल अपनी टोह लेने आता है कि वह जो हुआ या कहा गया था वह हुआ भी था या नहीं और क्या उसके कोई निशानात अभी बाकी हैं?…
और वह जो हर नुक्कड़ पर एक आदमी पालथी मारे बैठा है वह था भी या नहीं? और यदि हाँ तो किस-किस मक्कारी के नक्श उसमें पिनहाँ हैं (मक्कारी के बिना भी क्या कोई इतना मशहूर हुआ कि लोग उसे अपने बीच से बेदख़ल कर पत्थर में जड़ दें?)

अब उसी को खोजते लोग वक्त को कंदराओं-सा खोद रहे हैं, बच्चों की तरह मीनारें चढ़ रहे हैं कि तभी कोई इससे आजिज़ आ छलाँग लगा देता है…

क्या कभी कोई अपने को दुहरा सका है : ईश्वर अपनी रचना, कवि अपनी पंक्ति, बीनकार अपने स्वर !—क्या कोई स्त्री अपना पाप ही दुहरा सकी है : (दो बार होने पर तो वह भी सहज लगने लगता है)—कहते हैं ऐसे पृथ्वी अपने रंग पाती है, पत्तियाँ फिर होती हैं हरी, जड़ें खुद अपने में गहरे धंस जाती हैं। तब आधी रात के बाद एक वृद्ध अपने मिजाज़ की वजह से अपना सब कुछ खोकर, बाज़ार की चाय की चुस्की की ओट से अपने को ताकता है;—कभी-कभी तो वह अपने को ढूंढ़ने लगता है।

नौ

वह काला (गद्य)

जब उन्होंने उसे देखा वह काला निरंतर चमचमा रहा था। जितना संभव था उतना आकाश स्थिर था; इसे आप इस तरह भी कह सकते हैं कि जो स्थिर है वह होता ही नहीं, जैसे आकाश !—उसी की वजह से सितारे निरंतर एक-दूसरे के पीछे भाग रहे हैं, एक-दूसरे को थामे मगर दूर दूर दूर···

ऊपर से देखने पर हमारी यह धरती एक हरित-आभा से मढ़ी दीख पड़ती है। तब क्यों नहीं हम एक ऐसी ही धरती और खोजते कि वह हमारी आभा से इसी की तर्ज़ में गुफ्तगू कर सके ? क्यों हमने हमेशा उन लाल पीली सूखी धरतियों को ही चुना, जहाँ ज़हरीली गैसों और बादलों ढंकी रोशनी से सदा आग लपलपाती थी ?—शायद उस धरती से आती रोशनी अभी हम तक पहुँच ही नहीं पाई हो, कि उसकी हरी छाया में हम बैठें और घर-सा महसूस करें।

मैं उस शहर की बात कर रहा हूँ जहाँ हरे पेड़ थे, झरने अपने स्वरों की रफ्तार में बहते थे और वह अपनी श्यामल जाँघों समेत वहाँ रहती थी।

दस

उनका सोचना (गद्य)

उनका सोचना था कि संसार सपनों के आगे ही रहता है, वे भूल गए थे कि वह उनके पीछे होता है, जब आकांक्षाएँ खुद अपना जवाब हो जाती हैं।

चमकीले रूपहले बालों वाली वह लड़की समुद्र को तालाब-सा ताक रही थी, पानी में अभी ज़हर नहीं घुला था। रेत में लोग चड्डियों में भाग रहे थे : स्त्री पुरुष !—बच्चे तो कहीं भी भाग लेते हैं, जंगलों में पहाड़ों

पर, दरिया के किनारे···जब हमारी शादी हुई थी। उसे हुए एक ज़माना, वक्त जश्न-सा गुज़र गया।

उनमें से अनेकों के पेट लटके हुए थे, रेत पर खाई मूंगफली के छिलके बहुत थे, भेलपुरी के काग़ज़ हवा में अपने इश्तहारों से उड़ रहे थे। प्रसिद्धि या समृद्धि एक ही सुविधा प्रदान करते हैं : हम अपनी बदज़ाती का प्रदर्शन कर सकते हैं!—खाई-पी औरतें स्तनों पर से पल्लू यूं ढरकाती हैं जैसे उन्हें दीन-दुनिया की कोई ख़बर ही न हो, फिर उनमें जाकर लौंडे अटक जाते हैं!

पता नहीं क्यों लोग महान् होने की फिराक में रहते हैं (ज़ाहिर है कि यह मैं अपने महान् होने तक कह रहा हूँ)—कुछ तो इस क़दर महान् होते हैं कि मरने के लिए भी विदेश जाते हैं···प्लेन से उतरती है लाश, बीवी बेटा स्तब्ध रह जाते हैं : 'क्या यह वही आदमी है जो हमारे साथ घरों में रहा था?'···महत्वपूर्णता के अलग-अलग तरीके, अपने अपने शिखर हैं। पर चलो हम मनाएं जश्न मरण का और कंटीली बात कहने से बाज़ आएँ।

धूप पहाड़ की पेशानी पर उतर आई है, बादल वहाँ घरों में घुसने को बेताब हैं, एक झरना सातों स्वरों, तीनों सप्तकों में लगातार झर रहा है। ओ फूल से सुकुमार कमल फूल, तुम्हारे तल पर आँसू की बूंद लरज रही है। मैं अपने एकांत में इस क़दर अकेला रह गया हूं कि मिलने वालों को भी दहशत होती है (हालाँकि सबको यकीन है मैं किसी लायक नहीं) इस महानगर को गाँव बनाकर मैं न जाने कब से भाषाहीन हो रहा हूं?

तुम्हारी बड़ी आँखें क्या अब भी पहले की तरह द्रवित होती हैं?—हरिण की आँखों की तरह, आश्चर्य और क्रीड़ा से चकित?

[केंद्रीय विद्यालय, मिनाम्बक्कम, मद्रास-600027]

दो कविताएँ

□ वरयाम सिंह

जल प्लावन

यह बरसात नहीं
महा जलप्लावन की तैयारी है।

भाग कर कहीं जाने की जरूरत नहीं
हम डूब जायेंगे घर समेत
अलग-अलग नहीं
डूबेंगे सब एक साथ
खुढ़ के ढोरों
और ओवरी के नाग देवता के साथ।

जल समाधि लेंगे
पहाड़ों और पेड़ों के साथ
खेत और खलिहानों के साथ
चींटियों और चिड़ियों के साथ,
हुए न हुए पापों के लिए
ईश्वर से क्षमादान पाने से पहले ही
हम डूब जायेंगे अपनी आस्था-अनास्था के साथ।

खेतों में मकई की फसल पर
अधिकार जताया भालू ने
आलू पर—सेही ने,
बाबू और बनिये ने—हमारी कमाई पर।

विषाणु तरह-तरह के
पलते रहे हमारे रक्त और विचारों में,
हमारी आस्थाओं और सरोकारों में,
पता नहीं क्यों याद आ रही हैं ये चीज़ें
तब जबकि दुनिया खत्म हो जानी है, कुछ पलों में।

प्रलय के इन क्षणों में
मैं देख रहा हूं अपने बेटे की आंखों में :
कहीं कोई चिंता नहीं,
कैसे कोई रह सकता है इतना निश्चिंत !
पता नहीं
तेंतीस करोड़ देवताओं में से
किस लापरवाह देवता का अवतार है !
पर क्या ज़रूरत है यह सब सोचने की
अब जबकि कुछ पल ही बचे हैं ?

किसे याद करूं इस क्षण—
उसे सुरक्षित जो बैठा है अपने स्वर्ग में ?
ले रहा जो चैन की सांस
खात्मा जो देख रहा संसार का, निर्द्वंद्व भाव से ?

कोई है क्या, जो कहे :
बंधु, यह जलप्लावन नहीं
बस, बरसात है सामान्य-सी !

मेले में देवता

हर मेले की तरह इस मेले में भी
मर्दों की निस्बत औरतें ही हैं ज़्यादा
सुनाती हुई देवता को अपने-अपने दुख।
पता नहीं क्यों होते हैं
औरतों के पास बताने को इतने सारे दुख।

मैं भी प्रार्थना करता हूँ देवता से :
प्रभु, मेले में आई, पर मेला देखने नहीं
बल्कि अपने दुख सुनाने इन औरतों के साथ
मैं भी हूँ शामिल इनकी शिकायतों में।

देवता, इस औरत की गाय बीमार रहती है
दूध नहीं दे रही है पिछले कुछ महीनों से
वह जल्दी से जल्दी स्वस्थ हो और स्वस्थ रहे !

वह जो सामने बैठी है
तुमसे जो चुपचाप बतिया रही है
उस औरत की बेटी को
उसका मर्द लेने आये,
कहीं वह दूसरी शादी न कर डाले !

सामने खड़ी उन दो औरतों के
लड़कों को नौकरी मिले, जैसी भी हो कच्ची या पक्की,
बहुत तंग आ गये हैं वे अपने आपसे !

और यह जो मौत की छाया जैसी औरत है
उसे एक मीठे बुखार ने गला दिया है
देवता, उसे डाक्टर के पास जाने की सुध दे
तपेदिक का इलाज अब इतना महंगा नहीं !

औरतें देखती हैं
देवता के अष्टधातु से बने मुखमंडल को,
उसकी सौम्य मुस्कराहट के पीछे
भावनायें जैसे बेचैन हो रही हैं व्यक्त होने के लिए।
औरतें जैसे समझ गईं होती हैं
क्या कहना चाह रहा है देवता।

चाहते हुए भी कुछ न कह पाते
देवता की यह मन:स्थिति
कितनी अपनी लगती है इन औरतों को !

[1318, पूर्वांचल, जे० एन० यू०, नई दिल्ली-67]

चार कविताएँ

□ डॉ० वी० सी० कुलंदैस्वामी

[डा० वी० सी० कुलंदैस्वामी (पेशेसे इंजिनियर) तमिल में 'कोलोथुंगन' नाम से कविता-लेखन। 1988 में काव्यसंग्रह 'वजुम वल्लुवम' पर तमिल साहित्य के लिए साहित्य अकादमी पुरस्कार। जलविज्ञान, जल इंजिनियरिंग के क्षेत्र में 'वर्षा-अपवाह' के इनके अध्ययनों को 'कुलंदैस्वामी मॉडल' के रूप में जाना जाता है।
संप्रति : मदुराई कामराज विश्वविद्यालय तथा अन्ना प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय, मद्रास के कुलपति रहने के बाद वर्तमान में इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के कुलपति]

इक चाह की है मैंने

इक चाह की है मैंने
नहीं करूँगा विश्राम जब तक न हो वो साकार
समुद्र किनारे रेतकणों को गिनने का भी सब्र है मुझमें
ठेल सकती न पीछे, न कर सकती निराश
न थकान, न श्रांति, मुझे उससे जो
इक चाह की है मैंने

द्वार पर दस्तक मैंने दी है
नहीं करूँगा विश्राम जब तक खुलें न स्वर्ग के द्वार
यह चाह है मेरी बनूँ ईश्वर मंदिर में
नहीं करूँगा विश्राम जब तक नहीं बनूँ भगवान
इक चाह की है मैंने

पहुँचने के लिए वहां सोच में भी जो असंभव
सृजित की मैंने सीढ़ी और चढ़ने वाला भी उस पर मैं
खुले हर इक द्वार मुझसे चाहता प्रवेश जिसमें कि मैं
पाऊँगा इक चाभी उस तप से जो किया मैंने
इक चाह की है मैंने

तूफान आए

तूफान आए और उड़ कर ले जाए
जड़ों से उखाड़ कर मृत पेड़ों को
बिजली गिरे और नंगा कर दे
विश्व पर शासन करते सारे पाखंड को

जागृति का सूरज निकलेगा
और फैलाएगा अपनी किरणें सब ओर
मानवता की सारी शक्ति फटे ज्वालामुखी की तरह
और हिंसा का नाश कर दे
सब कुछ पिघल जाए जिससे चिना जाए, गढ़ा जाए नया आधार
प्रासाद बने जो नया हो, विशाल हो, मज़बूत और बड़ा हो।

बोझ न कम हो : कंधों में हो बल

वर दो मुझे बस एक
नतमस्तक हूँ
प्रकृति मां
न कोई संभ्रम, न कोई मेरे द्वंद्व है मन में
वर दो मुझे बस एक।

नहीं चाहता कम हो मेरे कंधों का यह बोझ
बल दो इतना बस हों कंधे मेरे और सबल
उठे हिमालय की चोटी चाहे जितनी ही ऊपर
बस पांव में शक्ति इतनी मेरे भर दो तुम हे मां
न थमे पर्वतारोहण पांव रहें गति में निरंतर
वर दो मुझे बस एक।

नहीं चाहता मुक्त करो तुम मुझे दुखों से
नहीं मांगता दर्द रहित आए कोई आनंद
बस इतनी मुझ पर कृपा करो हे मां
जब शांति लगे डराने मुझे सुलाने अपनेपन से
अमिट ज्वाला हो प्रज्ज्वलित प्रेरणा की मेरे मन में
वर दो मुझे बस एक।

कब तक ! आखिर कब तक

कब तक इस धरती पर ये कष्ट रहेंगें !
कब तक हे भगवान ! यह विश्व सहेगा !

थामे खाली पेट
भूख की पीड़ा से कराहते
धागे के बलों से मुड़ते
गिरते हैं, बेहोश होते हैं
कब तक इस धरती पर ये कष्ट रहेंगे ?

झुर्रियों की खाल से ढका हड्डियों का कंकाल
दो टांगें जैसे दो तिनके
जीवन जैसे तला जा रहा उबलते दर्द में औ,
शरीर बस यातनाओं का बर्तन
कब तक हे भगवान ! यह विश्व सहेगा ?

मेरी आंखें जख्म बन जाती हैं, जिनसे बहता है लहू देख कर
कमज़ोर, भूख की आग में बिलबिलाते बच्चों को
जो मां के गर्भ से ही सीख कर आते हैं यातनाएँ सहना
न खाना मिलता है न परवरिश
कब तक इस धरती पर ये कष्ट रहेंगे ?

अपार सम्पत्ति, तबाह करने के लिये भी बहुत
औ, प्रचंड गरीबी—सूख गये कटोरे
अनंत भीड़ खाली पेटों की
औ, कुछ की हँसी, खिलखिलाहट
कब तक हे भगवान ! यह विश्व सहेगा ?

कुछ के प्रीतिभोज, कैसा घृणित नज़ारा
आंखें झुक जाती हैं शर्म से
बीमारी, अभावों के शिकार होते शरीर
कुम्हलाते, नष्ट होते, सूखे पत्तों की तरह झरते
कब तक हे भगवान ! यह विश्व सहेगा ?

अनुवाद : श्रीवत्स और आशा कंवर

समीक्षा

आती है जैसे मृत्यु

☐ कुन्दन माली

'जल है जहां,' 'वह एक समुद्र था' तथा 'शब्द भूले हुए' जैसे कविता-संग्रहों के प्रकाशन के पश्चात् नन्दकिशोर आचार्य का चौथा काव्य-संग्रह 'आती है जैसे मृत्यु' प्रकाशित हुआ है, जोकि तीन खण्डों—उतर गई है झील', 'राग मरुगंधा : तीन' तथा 'बेघर हुआ जाता शहर' में विभक्त है। इन कविताओं में कवि की प्रेम-विषयक अनुभूतियों, थार-मरुथल से सम्पृक्त संवेदनाओं तथा कवि के निजी शहर बीकानेर के प्रति उसकी नानाविध मनःस्थितियों, क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं तथा अन्तःक्रियाओं का स्वर अभिव्यंजित हुआ है, और कुछ इस प्रकार से कि कविता के रस सिक्त, गंभीर एवं सजग पाठक को एक अरसे बाद काव्यात्मक आस्वाद का अवसर भी सहज ही उपलब्ध हो जाये।

नन्दकिशोर आचार्य सामाजिक-सांस्कृतिक विचारक, निबंधकार तथा नाटककार के रूप में अपनी विशिष्ट पहचान रखते हैं तथा उनके कृती-व्यक्तित्व को उनके निबंध-संग्रहों, नाटकों तथा साहित्यालोचना की पुस्तकों के आधार पर महत्वपूर्ण रूप से रेखांकित भी किया गया है। लेकिन हम यहां इस बात को विशेष तौर पर कहना चाहेंगे कि कविता में वे अपने अनुभवों-अनुभूतियों तथा संवेदनाओं की समग्र झलक दिखा पाने में, पाठक को स्वयं के रू-ब-रू खड़ा कर पाने में तथा उसके अनुभवों की साझेदारी करने में दक्षता का परिचय दे जाते हैं। मानसिक, वैचारिक तथा वैयक्तिक अनुभवों-संवेदनाओं की मनोवांछित अभिव्यंजना की गुंजाइश कविता हो सकती है। अपनी सघनता, संरचनात्मक जटिलता तथा अर्थगर्भिता के लिहाज से कविता, व्यक्तित्व के अनछुए, उलझे तथा अन्यथा अव्यक्त मनोभावों को प्रकट करने का अत्यन्त सहज माध्यम बन कर प्रत्यक्ष होती है। एकाधिक विधाओं में सृजन करनेवाले रचनाकार की सफलता का मापदंड भी प्रायः उसकी कविता ही बन जाया करती है।

निबंधों तथा नाटकों में जिस तरह का संयम, सटीक वैचारिक दृष्टि तथा बात को उचित तथा सम्यक् शब्दों के माध्यम से नन्दकिशोर आचार्य कहते हैं वही उनकी कविता का एक प्रमुख लक्षण है। अधिकतर समकालीन-कवियों से भिन्न, वे अपने पाठक को न तो चौंकाने में विश्वास करते हैं, न उसे विस्मित करने में या हतप्रभ कर देने में। सतत काव्य-प्रवाह, शालीन-भंगिमा तथा शब्दों की फिजूल खर्ची से बचते हुए, वे पाठक को अपने अनुभवों में साझा करने को आमंत्रित करते चलते हैं। यहां तक कि प्रेम की भावभूमि पर आधारित कविताओं में मांसलता का पुट होने पर भी (यद्यपि यहां मांसलता भी बहुधा अतिरेक के समीप जा पहुंचती है) पाठक मानसिक तथा भावनात्मक स्तर पर उस सीमा तक उत्तेजित नहीं होता कि मांसलता

Hira Lal Thakur
BADAH P.O. MOHAL
KULLU-175126 H.P.

को यहां आरोप मान लिया जाये।

अफ़रा-तफ़री, व्यतिक्रम, जीवनमूल्यों के अनवरत-क्षय, मानवीय-सम्बन्धों में आती जा रही शिथिलता तथा करुणा, स्नेह-संवेदना को तकनीक द्वारा विस्थापित करते जाने के इस दौर में भी कविता में प्रम, शृंगार तथा मांसलता का प्रवेश करा पाना कवि की आस्था का उल्लेखनीय पक्ष कहा जायेगा। आजकल के दौर में भी नन्दकिशोर आचार्य प्रेम की सूक्ष्म, जटिल अनुभूतियों का निर्वहन करते हैं तो यह बात सिद्ध होती है कि इस समाज तथा अखिल चराचर की अनगिनत खूबियों, संभावनाओं तथा मानव के स्वाभाविक, सहज संवेदनों-सम्बन्धों एवं जीवन के प्रति सकारात्मक अवधारणाओं के परिप्रेक्ष्य में, अच्छी, सलीकेदार चीज़ों के बारे में कवि का विश्वास अब भी टिका हुआ है।

नन्दकिशोर आचार्य कविता में प्रेम को 'ग्लोरिफाई' नहीं करते, बल्कि उसको 'डिग्निफाई' करते हुए अंततः मानवीय अस्मिता के व्यापक धरातल पर प्रेम की 'सिग्निफिकेंस' पाठक के सामने प्रकट करते जाते हैं। इसके लिये उन्हें किसी बाह्य उपादान, तर्क या औचित्य का सहारा नहीं लेना पड़ता। प्रेम की विविध अनुभूतियां तथा अनुभव अपने सहज-स्वरूप में उपस्थित होते हैं। प्रेम-विषयक मनोभावों के 'ग्लोरिफिकेशन' से बचते हुए यहां कवि अपनी कविता को प्रकारांतर से बड़बोलेपन अथवा अतिरंजना से भी बचा ले जाता है। प्रेम को, जो कि अमूर्त है, मानवीकृत करने के अपने खतरे होते हैं और इनसे कवि पूर्वपरिचित है, अतएव इनसे बचने का उपक्रम भी उसके पास है, उसका कारगर उपयोग भी वह करता ही है।

नन्दकिशोर आचार्य नर-नारी के प्रेम-सम्बन्धों के ही नहीं, वरन् व्यक्ति के मानवीय प्रेम, परिवेश-प्रेम तथा प्रकृति प्रेम के भी कवि हैं। यही कारण है कि छोटी-छोटी कविताओं में भी प्रेम की—व्यापक, कोमल संवेदनाएं तथा विशिष्ट संस्पर्श इनमें विद्यमान है। दरअसल चेतन भी जड़ तभी होता है जबकि स्नेह का, सहानुभूति का तथा सांत्वना का स्रोत सूख जाता है।

'आती है जैसे मृत्यु' संग्रह की प्रेम-विषयक कविताओं से गुज़रना प्रेम की कोमल मनोभावनाओं तथा संवेदनाओं से गुज़रना तो है ही, वह प्रेम के बहुआयामी अनुभवों से गुज़रना भी है। विचारों का अनुभव तथा व्यावहारिक रूप में परिणत हो जाना सामान्य-सी बात कही जा सकती है, किंतु कविता में किसी भी अनुभव का, चाहे वह प्रेम ही क्यों न हो, विचार के रूप में अभिव्यक्त होना किसी विशिष्टता से कम नहीं होता। इस अर्थ में नन्दकिशोर आचार्य विशिष्ट कवि माने जायेंगे कि वे प्रेम को अनुभव के विभिन्न चरणों से गुज़रने देकर उसे विचार के रूप में अभिव्यक्त कर जाते हैं :

तुम्हारे नाम ही
रचता रहूंगा मैं :
और क्या होती है कविता—
यों शब्द के अस्तित्व होने के सिवा ?

(तुम्हारे नाम)

आचार्य के समीप प्रेम न केवल अनुभूतियों तथा अनुभव और विचार के स्तर पर अभिव्यक्त होता है बल्कि वह स्मृति के धरातल पर भी अपने होने का बराबर अहसास कराता है। संग्रह की अनेक कविताओं में प्रेम का स्मृतिपरक प्रभाव ही लक्षित होता है। लेकिन संग्रह

की शीर्षक कविता 'आती है जैसे मृत्यु' प्रेम की व्यावहारिक अनुभूति तथा उसकी स्मृतिपरक जीवंतता का सटीक प्रकटीकरण है :

आयीं तुम
आती है जैसे मृत्यु
नष्ट करती हुई
जो कुछ नश्वर है मेरे भीतर
बनाती हुई स्मृति मुझे/अपने आने की (अक्षर)

प्रेम-कविता और उसमें मांसलता के पुट पर विचार करते समय, कुछ समय पूर्व प्रकाशित जितेन्द्र कुमार के काव्य संकलन 'ऐसे भी तो संभव है मृत्यु' का स्मरण हो आता है। उक्त संकलन में कतिपय कविताएं मृत्युबोध तथा मृत्युभय को अभिव्यक्त करती हैं, किंतु वहां अधिकांशत: कविताओं में शृंगारिक भावभूमि का ही आधिक्य दिखाई देता है। सौंदर्यबोध के नाम पर जितेन्द्र कुमार सतही या स्थूल मांसलता से ओतप्रोत कविता लेकर सामने आते हैं। इसके ठीक विपरीत, नन्दकिशोर आचार्य की प्रेम विषयक कविताएं द्रष्टव्य हैं, जिनमें भाषा, कथ्य, शिल्प तथा कोमल संवेदनाओं का समन्वित रूप ही कविता बनकर प्रकट होता है। काव्यात्मक रवानी, लय तथा शांत उद्वेग इन कविताओं की पठनीयता का मुख्य आधार बन जाते हैं।

अवधेश कुमार की टिप्पणी, नन्दकिशोर आचार्य की कविताओं पर एक हद तक सही उतरती है, जब वे कहते हैं कि—"नन्दकिशोर आचार्य की प्रेम कविताएं एक नये प्रकार का आलोक तथा रोमांच-बिखेरती हैं—उनमें एक ऐसी सधी हुई अभिव्यक्ति है जो उन्हें सामान्य प्रेम कविताएं होने से बचाती हुई इस अनुभूति को नये सिरे से जगाने की कोशिश करती हैं।"

नन्द किशोर आचार्य जीवन के प्रति गहन रागात्मकता तथा जीवन सम्पृक्ति के कवि भी हैं। यह बात 'राग मरुगंधा : तीन' नामक खंड की कविताओं से परिपुष्ट होती है। ये कविताएं प्रतिकूल परिस्थितियों के जीवानुकूल परिस्थितियों में तब्दील होते जाने की प्रक्रियागत अभिव्यक्तियां हैं। जिजीविषा तथा आत्मबल के सहारे मनुष्य मनचाहा कर गुज़रता है, बशर्ते जीवन के प्रति उसका मोह भंग न हो गया हो, उसने परस्पर विश्वास के आधारों को त्याग दिया हो तथा स्वयं की क्षमता में उसको संशय की प्रतीति न होने लगी हो। मानव समाज, परिवार तंत्र अथवा व्यवस्था और अंतत: यह अखिल विश्व, हमारी साझा-नागरिक अनिवार्यताओं तथा आस्थाओं के बल पर ही टिका हुआ है, और कायम है। मानवीय आस्था के बहुआयामी स्वरूप से हम सब परिचित ही हैं। मरुस्थल को यहां हम कवि की सौंदर्यपरक चेतना तथा जीवनासक्ति के प्रतीक रूप में सहज ही देख सकते हैं, जब एक कविता में हम पाते हैं :

तुम्हारी आंखों के आभ में
फैला है जो सूनापन
वह मैं हूं
पातहीन रूंख-सी देही
सोचती मुझको।
सोचो, और सोचो
प्रार्थना-सा मुझे

इस सूनेपन की लय में घुल जाओ...
(तू फिर गोचर होगी)

कवि के अंतर्मन में जीवन-सौंदर्य और मानवीय संवेदना के प्रति आस्था और ललक अमूर्त नहीं, बल्कि कोंपल की तरह पुष्पित-पल्लवित-विकसित होती है। वह मनुष्य के साथ अनवरत यात्रारत जीवंत संवेदनाओं के कवि बनकर लक्षित होते हैं। खेजड़ी, मेमने और भेड़, सूरज और हवा, रेत, बारिश, तलैया, पत्तियां इत्यादि कवि के लिए जीवन की अनंत संभावनाओं को व्यक्त करने वाले उपादान बन जाते हैं। कथ्य, भाव-विचार तथा शिल्प एक दूसरे से किस प्रकार अभिन्न, अविच्छिन्न-रूप से समन्वित हो सकते हैं, इसका उदाहरण नन्द किशोर आचार्य की कविताएं प्रस्तुत करती हैं :

रोही की पुकार हो तुम
मुझे सम्बोधित नहीं चाहे
सुन तो रहा हूं तुमको
भर तो रहा हूं तुमसे
मैं जो रोही का सूनापन हूं। (रोही की पुकार)
रूंख/पहले भी नहीं था
फिर/नहीं है :
वही नहीं है लेकिन/मरुथल ! (रूंख)

इन कविताओं में भावों तथा संवेदनों का दोहराव भी देखा जा सकता है। यहां तक कि भाषात्मक कसावट तथा चौकन्नेपन के बावजूद यह पुनरावृत्ति-दोष छिप नहीं सका है। इस वजह से यह आभास भी होता है कि कवि का भाव-जगत, अनुभव-संसार तथा संवेदनाएं सिमटने-सिकुड़ने लगी हैं।

पुस्तक के तीसरे खण्ड 'सोया रहता है शहर' में नन्द किशोर आचार्य चीजों के मानवीकरण के सिद्धहस्त कवि के रूप में सामने आते हैं। बीकानेर के पुराने शहर से प्रेरित काव्य-शृंखला की इन कविताओं में 'नवछायावाद' या 'न्यूरोमांटिसिज़्म' के लौटने के संकेत हैं। एक अरसे से यह महसूस किया जा रहा है कि अपनी समग्रता में क्रमिक गति से समकालीन कविता उसी ओर उन्मुख हो रही है जहां व्यक्ति और प्रकृति एक दूसरे से रू-ब-रू नज़र आते हैं। कविता में वस्तुओं, उपादानों अथवा उपकरणों को मूर्तिमान या 'पर्सोनिफाई' कर देना ही छायावादी कविता का एक प्रमुख आधार स्तंभ रहा है।

यहां नन्दकिशोर आचार्य पूरे शहर को ही मानवीकृत करते चले जाते हैं। शहर, जो कि उनकी स्मृतियों का हिस्सा रहा है, तथा वह शहर जो कि अब मौजूद है, अपनी परिवर्तनशील-संक्रमणशील अवस्था में कभी तो—**"लाठी के सहारे, हांफता, बेदम/बूढ़ा शहर/घाटी चढ़ रहा" (पृ० 60)**। दिखाई देता है, तो कभी—**"ढलान और चढ़ाई के बीच का पुल/थम कर जहां दो पल/लगता है शहर जर्दा, आराम से रखकर होठों के बीच/अपना रास्ता पकड़ता नजर आता है" (पृ०59)**।

खिड़कियों, हवेलियों, चौक-गलियों और बाजारों से शहर की वीरानी के आलम का पता चलता है। कवि के लिए शहर का वीरान होते जाना महज एक शहर का उजड़ना भर नहीं है अपितु वह ढेर-सारे सपनों, सिद्धांतों और आदर्शों का बिखरना भी है। लिहाजा यहां

कवि की वैयक्तिक अनुभूतियां समष्टि गत अनुभूतियों में रूपांतरित हो जाती हैं।

अमूर्त को मूर्त कर सकने की अपनी काव्यात्मक निपुणता के कारण ही नन्दकिशोर आचार्य इन कविताओं में शहर के विभिन्न मनोभावों, लक्षणों तथा उसके विगलन और विशृंखलन को अनेक प्रकार से, अनेक कोणों से पकड़ पाते हैं। कभी तो शहर "घनी घनी छाता में/ पीपल के गट्टे पर,/या गहरे तहखाने में अपने उतर। शहर सोया रहता है। (पृ० 60) या फिर वह 'बेसुध' पड़ा रहता है (पृ० 61)।)

अत्यंत सहज तथा सरल वस्तुओं के सहारे समग्र परिवेश का यथार्थ संकेतित कर देने की कला में नन्दकिशोर आचार्य निपुण हैं। यहाँ हमें एक कवि के 'सेंस ऑफ बिलांगिंग' यथार्थ-परक अनुभूति तथा उसकी केंद्राभिमुख संवेदना का पता मिलता है :

जितने निकालती है कांटे
उतना ही कच्ची ऊन-सी
खुद फंसी जाती है :
कहां तक बचा पायेगा
दुपट्टा लीर-लीर यह
इन तीखे शूलों से
इस मासूम नगरी को ?

लेकिन चूंकि नन्दकिशोर आचार्य गहन जीवन-सम्पृक्ति तथा आस्था के कवि भी हैं, इसलिये आदमी के भीतर से खोखले होते जाने तथा शहर के वीरान होते जाने के बावजूद, जीवन के नैरंतर्य, मानवीय अस्मिता, सौंदर्य बोध तथा सृष्टि-सातत्य में उनका विश्वास आसानी से डगमगाता नहीं—

चारों ओर फैली रेत-सी हो
या बजरी-सी हो
जितनी रूखी तपिश/दीखती रहती है हर वक्त
शहर के चेहरे पर—
उतना ही शीतल और मीठा है
अन्तस्तल की गहरी बावड़ियों,/कुंडों और कुओं का जल। (जल)

'आती है जैसे मृत्यु' संकलन की कविताओं में बतौर एक यात्रारत कवि, नन्दकिशोर आचार्य अपने लक्ष्य की दिशा में अगला पड़ाव तय करते दृष्टिगत होते हैं। अपने पूर्व प्रकाशित तीनों काव्य संकलनों 'जल है जहां' 'वह एक समुद्र था' तथा 'शब्द भूले हुए' की कविताओं में कवि की जो जीवन-आस्था, मानवीय अस्मिता तथा जीवेषणा और जीवन का सौंदर्य बोध परिलक्षित हुआ था उससे पाठक के मन में कवि के प्रति एक किस्म की गंभीर आश्वस्ति हुई थी। प्रस्तुत संकलन की कविताओं में कवि अपने सर्जनात्मक-सरोकारों को और अधिक परिष्कृत, परिमार्जित कर सका है। इनमें न केवल अपने यथार्थ तथा परिवेश के प्रति कवि की सूक्ष्म दृष्टि को पहचाना जा सकता है बल्कि भाषा तथा काव्य शिल्प में उसकी दक्षता भी अपना अलग प्रभाव छोड़ती है।

आती है जैसे मृत्यु (कविता संग्रह) **नन्द किशोर आचार्य,** वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर (राज०), मूल्य : पचास रुपये।

यथार्थ और लय का गीतात्मक सहकार

□ ओम निश्चल

एक ऐसी अतुकांत सदी में जब पूरी की पूरी छंद-व्यवस्था ही नकार दी गयी हो, भारतीय कविता में छंद-व्यवस्था की बात करना इस सदी के सोचने के ढंग को पुन: उसी फार्म के धरातल पर लौटाना है, जहां से उसकी यात्रा शुरू हुई थी। यह तो तय है कि हिन्दी कविता तमाम अतुकांत परिस्थितियों के बावजूद कभी न कभी अपने छंद विधान की ओर लौटेगी। परन्तु यह भी सच है कि भारतीय परिस्थितियों में 'बरवै' में कही जाने वाली बात 'सानेट' या हाइकू' इत्यादि काव्यरूपों में नहीं कही जा सकती। अत: इस तर्ज पर जो प्रयोग हो भी रहे हैं, वे अत्यंत विरल और श्रम साध्य हैं। वे एक नये किस्म के विरल प्रयोग होने के नाते उल्लेखनीय हो सकते हैं, काव्य-विशिष्टता के कारण नहीं।

एक वक्त कविता में से ऐसा था कि अनेक छंद रूपों : सवैया, घनाक्षरी, दोहा, चौपाई, बरवै आदि में एक साथ रचनाएं होती थीं। काव्यास्वाद के लिए इस छंद-वैविध्य का अत्यंत कलात्मक महत्व रहा है। आज ये व्यवस्थाएं कविता के आधुनिक फार्म में सिमटकर रह गयी हैं। भाषा और कथ्य के अत्यंत बारीक रेशों के वैशिष्ट्य से ही काव्यास्वाद को परस्पर पृथक् बनाया जा सकता है। परन्तु दुर्भाग्य से आज की कविता में ऐसा विरल रूप में घटित हो रहा है। बहुत कम कवियों की कविताएं अपनी 'आइडेंटिटी' स्थापित कर पा रही हैं।

ऐसे विरस माहौल और कविता के नये वस्तु विधान के दौर में गीत लिखना और उसे प्रकाशित कराना दुहरे जोखिम का कार्य है। कविता में जिस तरह के तनाव की संश्लिष्टता और भाषा-संवेदना आज के लिए लगभग अपरिहार्य है, गीत रचना के विधान में उस संश्लिष्ट और भाषा-संवेदना को जीवंतता से व्यक्त करने की अपेक्षाएं नहीं की जातीं। अज्ञेय, केदारनाथ सिंह, कैलाश वाजपेयी और नयी कविता के अनेक कवि संभवत: ऐसी स्थितियों में ही गीत से अलग हुए थे और कविता के नये वस्तु-विधान को अपनाया था। परन्तु क्या सचमुच ऐसा है कि गीत के वस्तु-विधान में आज की भाषा-संवेदना और सामाजिक चिंता को व्यक्त कर सकने की क्षमता नहीं। क्या उसकी वैसी 'कोमल-कांत पदावली' वाली मुद्रा अभी भी कायम है, विजय किशोर मानव के गीत संग्रह 'गाती आग के साथ' के परिप्रेक्ष्य में इस नजरिये की पड़ताल की जा सकती है।

गीत और गांव का पड़ोस-भाव विजय किशोर मानव की रचनाओं और स्वभाव 'दोनों' में झलकता है। गांव से निकटता से जुड़ने और उसके संस्कारों में रमने का सुख उन्हें पूरा का पूरा मिला। गांव की जमीन के लोकगीतों की तरफ इस कवि का झुकाव बचपन से ही रहा है।

यही वजह है कि मानव ने, जो अपने गीतों को किसी भी प्रकार के शिल्प में बोझ से सायास ग्रस्त नहीं मानते, संप्रेषणीयता के अपने मुहावरों से गीत को जनसंवेद्य बनाया है। वे यह बेझिझक मानते हैं कि कविता जो पूरी तरह किसी तक भी पहुंचे, उन्हें एक तरह से जीने को मिली।

इन गीतों में वे अनुभूति, विचार, यथार्थ तथा शिल्प के समायोजन को भरकस सार्थक बनाते हैं। इनमें ज़िन्दगी का यथार्थ भी है, वर्तमान समय के चुनौतीपूर्ण प्रश्नों के प्रति चिंताकुलता भी।

विजय किशोर मानव के गीतों में कन्हैयालाल नंदन "कनपुरिया रंग" पाते हैं। उनके ही शब्दों में "कानपुर का आदमी जब बिछता है तो गंध-फूल की तरह और बिफरता है तो चटकते सूरज की तरह चटकता है। और यह मुश्किल काम 'असली कनपुरिया' बड़ी आसानी से करता है। कुछ उस तरह जैसे कोई अपना दीन धरम जीता है।" नंदन का यह कथन भावातिरेक में डूबे 'कनपुरियों' के भरम पर थोड़ी देर खुशफहमी का पर्दा अवश्य डाल सकता है, परन्तु गीतों की विवेचना की कोई सर्वमान्य कसौटी नहीं बन सकता। गीतकार कोई मैनपुरी तम्बाकू अथवा इलाहाबादी अमरूद तो नहीं है कि उसकी साख शहर विशेष के कंधे पर टिकी हो। घराने संगीत में चलते हैं, गीत में नहीं। यह किसी वंशवृक्ष का उत्तराधिकार भी नही है। क्योंकि यदि ऐसा होता तो कानपुर के ही रामस्वरूप 'सिंदूर', डॉ० उपेन्द्र 'क्षतदल' जैसे यशस्वी कवि चर्चा से ओझल नहीं होते। अत: नंदन की यह बात स्वीकार्य नहीं लगती कि किसी गीतकार या कवि के मूल्यांकन के लिए उसके शहर की जन्म कुंडली जाननी जरूरी है अथवा उसे कसौटी के रूप में लिया जाना चाहिए।

आधुनिकता और समकालीनता का समन्वय आज की कविता का अपरिहार्य स्वभाव बन गया है। मानव के गीत इस चुनौती से बखूबी रूबरू होते हैं। शहरी विडंबना मनुष्य की खोती अस्मिता, मानवीय छलप्रपंच, अपनी भूख-प्यास के लिए चिंताकुल औसत आदमी, गंवई ज़मीदारों के आतंक, आस पास घटती घटनाओं के प्रति मनुष्य की निरासक्तता, दफ्तर की बासी को उनके गीत पूरी शिद्दत से टटोलते हैं।

अनेक गीतों में शहरी-जीवन की असंगतियों के विविध अनुभवगम्य चित्र मिलते हैं। मानव के गीतों का शिल्प लोक धुनों का आधार ग्रहण करते हुए आकार लेता है। शायद इसकी वजह गीतों को उन लोकोन्मुख मुहावरों से संसिक्त करना है जो जन मानस में परम्परा से अपनी पहचान बनाये हुए हैं। ऐसे वक्त कवि के तेवर में अनुभूतियों की बारीक से बारीक पर्त तक पहुंचने की कोशिश दिखायी देती है :

बंधी अलगनी के ऊपर/आकाश नहीं अपना,
कोई भी मौसम हो, उड़ने का देखो सपना,
खुद पर हंसना खुद पर रोना
शूली पर सोना
सांस चले तब तक बस पिंजरों का आबोदाना
तोते से कहती है मैना अब न शहर जाना। (पृष्ठ 34)

एक अन्य गीत 'राम क्या होना है' में घरों के कसाई बाड़ों में तब्दील होने तथा राजा के कान के कच्चे होने का हवाला कथ्य की चातुर्यपूर्ण भंगिमा के साथ दिया गया है। विजय किशोर मानव के गीत के बिम्ब, बेहतर संयोजन का प्रतिफलन हैं। चित्रात्मकता मानव की

गीत रचना की पहली शर्त है। उनके यहां बिम्ब शब्दों की सतह पर नहीं अर्थ की व्यंजना में पिरोए हुए दिखते हैं। उनकी कविता चाक्षुष बिम्बों से निर्मित सर्जनात्मक अन्विति है :

धूप तिरछी सुबह नदी छूती
हिलती लहरों में ऐसे दिखता है
जैसे कोई शकुन्तला लेटी
अपने दुष्यंत को खत लिखती है

सालों पहले साप्ताहिक हिन्दुस्तान में छपे मानव के धूप विषयक चित्र-गीतों की चर्चा यहां इसलिए प्रासंगिक लगती है कि यही वह तात्विक बिन्दु है जो मानव के गीतों में लय की तरह गुंथा हुआ है।

गांव का परिवेश आज काफी बदल गया है। बड़े किसानों का वर्ग जो नवसामंतों की भूमिका में है, गरीबों के दोहन में संलग्न है। गांव का मुखिया भी इस शोषण का नियामक है। शोषण की इस दहकन को उनकी कविता पहचानती है तथा सदैव उपेक्षित वर्ग का कंधा सहलाती हुई उसके पक्ष में खड़ी मिलती है : **घुरहू के घर चना-चंदेना/छप्पन भोग प्रधान के/झुलसे हुए करील दूर से/भीट ताकते पान के** (पृष्ठ 39) —ये पंक्तियां पढ़ते हुए गांव में व्याप्त विषमता का दृश्य जाग्रत हो उठता है। तल्ख प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए गुलाब सिंह ने कभी अपने गीत में कहा था : "**मुखिया थे 'मुख' से, सरपंच हुए पेट-से/बातों की एवज संबंध जुड़े टेंट से/** नहर गांव भर की है/पानी परिधान का।" मानव की ग़जल की पंक्तियां यहां दुहराना कितना मौजूं लगता है : '**मुखिया का कुर्ता है रेशम का/भीड़ पहनती टाट हमारे गांव में।**' कहा जा चुका है कि मानव के गीत जनता के दुख-दर्द का प्रतिनिधित्व करते हैं। वे सदियों से चल रही शोषण की परंपरा पर सीधे उंगली धरते हैं :

देह चुकाये सूद/उमर भर खाता लिखे महाजन
—मिला विरासत में/पुरखों से भूख-प्यास
पालागन। (पृष्ठ 44)

गांव के लिए इसी गीत में "आँसू के सूबे" जैसे प्रतीकों का चयन यथार्थता की मार्मिक संवेदना का परिचायक है। मानव की काव्य-भाषा जिन शब्द-प्रतीकों से बार-बार टकराती है, वे हैं—सुआ, झुर्री झुर्री, कंधे, फंदे, पिंजरा, मैना, मुखिया, कारिन्दे, भागीरथी, सगर, दीन धरम, आवभगत, छदाम, हंस, निजाम, रामनामियां, शहर, मन, हिरन, आंगन, दालान, तनहाई, हरम आदि। इन शब्दों से जिस तरह के अर्थ की सृष्टि होती है, वह सचमुच गीतो में उस नयी चेतना का विस्तार है, जिसका उत्स अग्रज पीढ़ी के उमाकांत मालवीय, कुमार शिव, अनूप अशेष के गीतों में मिलता है।

मानव के गीत रोजमर्रा की दिनचर्या तथा गृहस्थ-जीवन की समस्याओं में भी प्रवेश करते हैं और उनके बीच से ऐसे बिम्ब उठाते हैं जो उनके गीत में सामाजिक अनुभव के गाढ़े रंगों की सृष्टि करते हैं। उनका गीत गृहस्थ जीवन के कठिन से कठिन क्षणों से परिचय है।

चिन्दी-चिन्दी मां का आंचल/झुर्री झुर्री चेहरा
और बहन के सपनों पर है/कंगाली का पहरा (पृष्ठ 24)

विजय किशोर मानव कोमल अनुभूतियों के भी सफल अनुगायक है। गीतों में आत्मीय संवेदना को वे पूरी महत्ता देते हैं। कथ्य और संयम से बंधी मानव की भाषा ऐसे क्षणों में फूल

के शिमला जनपद का 'ठोडा' है।

2. **हास्य प्रधान :** महाराष्ट्र के तमाशा, गुजरात के भवाई की तरह शिमला जनपद के स्वांग, सिंह और बूढ़ा इत्यादि लोकनाट्य हैं।

संगीत प्रधान : उत्तर प्रदेश की रामलीला, बंगाल की जात्रा के समान शिमला जनपद की 'हार' और 'बरलाज' इत्यादि हैं।

वार्ता प्रधान : उत्तर प्रदेश की नौटंकी, मालवा के माच से मिलता-जुलता शिमला जनपद का करियाला है।

उपर्युक्त विभाजन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत के अन्य जनपदों की तरह हिमाचल प्रदेश की लोकनाट्य परंपरा भी बहुत पुरानी है। इसका लोक जीवन की सभी प्रवृत्तियों पर गहरा प्रभाव रहा है और ग्रामीण जनता इनका बड़े चाव से रसास्वादन करती है।

भारत के विभिन्न जनपदों में भक्ति आंदोलन के फलस्वरूप लोकनाट्यों को अधिक लोकप्रियता मिली है। राष्ट्रीय स्तर पर वल्लभाचार्य ने कृष्णभक्ति के प्रसार के लिए कृष्ण लीला और गोस्वामी तुलसीदास ने रामलीला को लोकप्रिय बनाने के लिए प्रेरित किया। इनका प्रचार और प्रसार समय के साथ बढ़ता गया। स्थान-स्थान पर इनके अनेक रूप उभरे।

हिमाचल प्रदेश के शिमला जनपद की लोक परंपरा में प्रचलित लोकनाट्यों की कुछ विशेषताएं इस प्रकार हैं—

(क) इन लोकनाटकों के कथानकों में सामाजिक, ऐतिहासिक और धार्मिक मान्यताओं, परंपराओं और लोकविश्वासों पर आधारित लोकजीवन में प्रचलित घटनाओं, कथाओं की चर्चा रहती है। कथानक कभी मौखिक वार्ता और कभी हावभाव से प्रकट होता है। करियाला जैसे लोकनाट्य में आधुनिक भावबोध की झलक भी मिल जाती है जो सामाजिक और धार्मिक पृष्ठभूमि में सहज रूप में उभरती है।

(ख) इन लोकनाटकों में भाग लेने वाले पात्र स्थानीय वातावरण और सामाजिक परंपराओं को ध्यान में रखकर अभिनय करते हैं। स्पष्टतः उनका मूल उद्देश्य लोक मनोरंजन है। इनमें विदूषकों की विशेष भूमिका रहती है। पात्र अपनी स्थानीय वेषभूषा, हाव-भाव और साधारण वार्तालाप की शैली से दर्शकों को प्रभावित करते हैं। इन लोक-नाटकों में केवल पुरुष पात्र ही भाग लेते हैं और नारी का अभिनय भी पुरुष पात्र ही करते हैं।

(ग) लोकनाटकों में चरित्रचित्रण की अपेक्षा प्रभावशाली भाषा में संवाद-योजना पर अधिक ध्यान दिया जाता है। संवाद प्रायः स्थानीय बोली में, अत्यंत छोटे-छोटे, चुस्त वाक्यों में और नपी-तुली शैली में होते हैं। इनमें हास्य एवं व्यंग्य का पुट तो रहता ही है, जिससे अभिनय भी प्रभावशाली बनता है।

(घ) लोकनृत्य और लोकगीत इन लोकनाटकों के स्वभाविक अंग हैं। इन लोकनाट्यों के आरंभ से समाप्ति तक, स्थानीय लोकगीतों, लोकनृत्यों और लोक धुनों के माध्यम से इन्हें अधिक प्रभावयुक्त बनाया जाता है।

(ङ) इन लोकनाटकों की भाषा में उर्दू, हिंदी, पहाड़ी और अंग्रेज़ी का मिश्रण होता है। भाषाओं के दैनिक बोलचाल के सहज संप्रेषणीय शब्द प्रयुक्त किए जाते हैं।

(च) लोकनाटकों का रंगमंच मंदिर का आंगन, मेले का मैदान कोई भी गांव की केंद्रीय

खुली जगह होती है। इनमें न पर्दा उठता है और न गिरता है।

(छ) सरलता और सहजता इन लोकनाटकों की सबसे बड़ी विशेषता होती है। लोकरुचि के अनुरूप उनका विधान होता है।

हिमाचल प्रदेश के अन्य जनपदों की भांति शिमला जनपद में प्राचीन लोकनाट्य परंपरा अभी भी जीवित है और लोकप्रिय भी है। बहुत वर्षों पहले विश्व कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने हमें चेतावनी दी थी—"असंख्य गांवों को लेकर जो हमारा देश है, उस देश की मनोभूमि में रस का उद्भव आज रुक-सा गया है। जो रस बहुत समय से नीचे के स्तरों में व्याप्त पड़ा है, वह भी दिनों-दिन गर्म हवा की गर्म सांसों में उड़ जाएगा। अंत में प्राणनाशा मरुभूमि आगे बढ़-बढ़कर तृष्णारूपी अजगर की तरह हमारे इस गांव में गूंथे हुए देश को ग्रास करती रहेगी। एक विशेष शिक्षा के कारण हमने देश को देखने वाली आंखें खो दी हैं—आज जनता का मानसिक उपवास दूर करने के लिए कोई भी उसकी कुछ भी सहायता नहीं करता। उनके कोई आत्मीय या अपने आदमी नहीं होते हैं। बेचारे अपने आप ही पहले ज़माने की तलछट से किसी तरह थोड़ी-सी सांत्वना पाने का यत्न करते हैं और कुछ दिन बाद यह भी खत्म हो जाएगा। सारे दिन के दुःख-दर्द के रीते तट निरानंद घरों में दिया भी नहीं चलेगा और न गीत सुनाई देंगे। वहां बांस के झाड़ों में झींगुर झनकारेंगे, झाड़ियों में से पहर-पहर पर सियारों की बोली सुनाई देगी और उसी समय शहरों में शिक्षाभिमानियों के झुंड, बिजली की रोशनी में सिनेमा देखने के लिए भीड़ लगाए रहेंगे।" रवि बाबू की यह चेतावनी लोकनाट्यों के संदर्भ में सार्थक हो रही है।

शिमला जनपद में लोकनाट्य द्वारा जनता में सामाजिक सामंजस्य एवं एकता का जितना प्रचार-प्रसार होता रहा है, उतना किसी अन्य माध्यम से नहीं। आज भी जनमानस में गहरे उतरने के लिए इनसे सशक्त माध्यम अन्य कोई नहीं हो सकता।

वास्तव में 'लोक' भारतीय जीवन का महासमुद्र है। उसमें अतीत, वर्तमान और भविष्य सभी कुछ संचित रहता है। शिमला जनपद के लोकनाटकों की एक आंतरिक विशेषता है—यथार्थ जीवन प्रसंग। लोकनाटकों में चाहे करियाला हो या बांठड़ा, सिंह और बूढ़ा हो या हार सभी में यथार्थ ही कथा-वस्तु का आधार रहता है। इन लोकनाटकों में कल्पना की अपेक्षा सत्य पर अधिक बल रहता है।

शिमला जनपद के लोकनाटकों में, साहित्यिक नाटकों की तरह काल्पनिकता नहीं होती। इसीलिए अभिनय के लिए किसी सुसज्जित भवन की आवश्यकता भी नहीं रहती। ये लोकनाटक कहीं भी, कभी भी बिना किसी रंगमंचीय तड़क-भड़क के प्रदर्शित किए जा सकते हैं।

लोकनाटकों के संबंध में प्रसिद्ध नाटककार डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल के मतानुसार—"न इसमें पटपरिवर्तन के प्रसाधन की अपेक्षा है, न दृश्य परिवर्तन की आवश्यकता। वह चारों ओर से दर्शक खचित मंच-पीठ राजमहल है, दीन की कुटिया या गृहस्थ का घर है। वही दूसरे क्षण विदेश हो गया। जैसे महादर्पण को ज्यों-ज्यों घुमाइये, त्यों-त्यों उसमें विराट जीवन की बहुरंगी प्रतिछवि अपने आप खिंचती चलती है। ठीक उसी प्रकार लोक रंगमंच, उसके अनौपचारिक अग्रहीन मंचपीठ और अंततः उसके सहज रंगमंच की प्रकृति है।...लोकनाट्य और उसके रंगमंच का दर्शक केवल दर्शक ही नहीं है, वह उस रंगमंच का सक्रिय अभिन्न अंग भी है। उसका संरक्षक और रसरंजक दोनों।" डॉ० लाल के ये उद्गार शिमला जनपद की लोकनाट्य परंपरा

पर पूर्णत: लागू होते हैं ।

अनादिकाल से हिमाचल प्रदेश यक्ष, गंधर्व, किन्नर, किरात, खश, कनैत आदि नृत्य एवं संगीत कला में प्रवीण आदिम जनजातियों का रंगमंच बना रहा। हिमाचल प्रदेश की यह लोकधर्मी नाट्य परंपरा अपने रंग-बिरंगे ताने-बाने में देश की प्राचीनतम अभिनय परंपरा को ईमानदारी और सच्चाई से आज तक निभा रही है। समय, स्थान, शिक्षा एवं अन्य बाहरी प्रभाव के कारण इसके स्वरूप में सहज परिवर्तन आ रहा है ।

शिमला जनपद के असंख्य प्रहसनात्मक लोकनाटकों में प्रमुख करियाला, ठोडा, बरलाज, बांठड़ा, सिंह और बूढ़ा, लीला, खेल, हार, स्वांग, दिवाली, निर्शू-बिर्शू, स्वांगटे आदि गिने जा सकते हैं। शिमला जनपद लोकनाटकों के हास्य-व्यंग्य गुणों की छाप लोकमानस पर दीर्घकाल तक रहती है ।

इंसाइकलोपीडिया ब्रिटानिका में गानेर्ट द्वारा व्यंग्य की परिभाषा इस प्रकार की गई है—"व्यंग्य हास्यास्पद अथवा असामान्य के प्रति हंसी उड़ाना अथवा क्षोभ के भावों की सशक्त अभिव्यक्ति है ।"—हास्यहीन-व्यंग्य गाली-गलौच और बिना साहित्यिक विधा के रूप का व्यंग्य भड़ैती है। यही नहीं, कोई भी लोकनाट्य बिना हास्य-व्यंग्य के ग्रामीण समाज में भी रसहीन ही लगता है ।

आक्सफोर्ड इंगलिश डिकशनरी में व्यंग्य की परिभाषा इस प्रकार दी गई है—"पद्यात्मक या गद्यात्मक कृति जिसमें तत्कालीन मूर्खताओं का मज़ाक उड़ाया गया हो।" अंग्रेजी भाषा के प्रसिद्ध लेखक एवं व्यंग्यकार स्विफ्ट ने व्यंग्य के बारे में कहा है—"व्यंग्य एक प्रकार का शीशा है, जिसमें देखने वाले को अपने मुंह के अतिरिक्त प्रत्येक का मुंह दिखलाई देता है। यही कारण है कि विश्व में व्यंग्य का स्वागत किया जाता है। बहुत कम लोग इससे अपने को पीड़ित अनुभव करते हैं।" करियाला और स्वांग लोकनाट्य में जब स्थानीय घटनाओं को लेकर हास्य-व्यंग्य की झड़ी लग जाती है तो ग्रामीण दर्शक हंस-हंस कर लोट-पोट हो जाते हैं ।

स्पष्टत: व्यंग्य के तीन तत्त्व हैं : (क) साहित्यिकता या साहित्यिक व्यंजना, (ख) दूसरों की मूर्खताओं की हंसी उड़ाना, (ग) वक्रोक्ति, वचन विदग्धा आदि ।

शिमला जनपद के लोकनाटकों में इन उपकरणों का भरपूर उपयोग हुआ है ।

व्यंग्य और हास्य का चोली-दामन का साथ है। आधुनिक भारत के प्रसिद्ध कारटूनिस्ट शंकर पिल्ले के अनुसार यह अभिशाप रहा है कि लोगों में विनोदप्रियता नहीं रही । हम लोग भूल गए हैं कि भारतीय परंपरा में तो जनसाधारण अपने देवी-देवताओं और गुरुओं पर भी हंसते रहे हैं, जो अन्यत्र नहीं हुआ। हम अपने शासकों, मंत्रियों, शिक्षकों, धनिकों, कंजूसों और हर परिस्थितियों पर हंसते रहे हैं। प्राचीन व्यंग्यकारों एवं हास्य अभिनेताओं, विदूषकों की हंसी से कुछ भी बच नहीं पाता था। प्राचीन नाटकों के विदूषक, पंचतंत्र हितोपदेश, कथा सरितसागर पुराणों आदि में ऐसे अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं। तेनाली राम, बीरबल और गोपाल भट्ट हास्य-व्यंग्य कला के कारण अमर हो गए। हंसी-ठट्ठा करना हमारे दैनिक जीवन का अनिवार्य पहलू रहा है ।

हमारे प्राचीन साहित्य में प्राचार्य भरत ने हास्य के छः भेद माने हैं। हलकी मुस्कान या ठट्ठा, खुली चमकती हुई मुस्कान, हंसी, दिल्लगी हंसी, गर्जती हुई हंसी, उन्मत्त हंसी, जिसमें हंसने वाले की आंखों में आंसू आ जाते हैं। अनेक लोकोक्तियों द्वारा लोकजीवन में हंसी का

tharahkardu.in

महत्त्व प्रकट हो जाता है। 'हंसते घर बसते', हंसी मन की गांठें बड़ी आसानी से खोल देती है आदि। कठिन परिश्रम की थकावट के कारण हास्य-विनोद से जीवन में ताज़गी आ जाती है। हास्य जीवन का पोषक तत्त्व रहा है तभी भारतीय लक्षण ग्रंथों के प्रणेता आचार्यों ने अन्य रसों के साथ हास्य रस को भी स्थान दिया है।

हिमाचल प्रदेश और शिमला जनपद के लोकनाटकों से हास्य व्यंग्य निकाल दो तो वे निष्प्राण, ऊबाऊ और निरर्थक से लगेंगे। भरतमुनि ने इसीलिए अपने नाट्यशास्त्र में हास्य रस के निर्देशन में लिखा—

विपरीतालंकारै विकृताचाराभिधान वेषेश्च।
विकृतैरर्थ विशेषैर्हसतीति रसः स्मृतो हास्य।

तात्पर्य यह कि हास्य का उद्रेक विकृत आकार, विकृत वेश, विकृत विचार, विकृत अभिधान, विकृत अलंकार, विकृत अर्थविशेष चाहे अभिनेता से हो, चाहे वक्ता में हो, चाहे अन्य किसी में, उनका प्रीतिपरक वर्णन या संकेत सहृदय श्रोता या दर्शक के मन में यदि गुदगुदी पैदा कर दे तो उसे हास्य रस के फलस्वरूप माना जाना चाहिए। यदि हम महासू जनपद के करियाला, स्वांग और सिंह और बूढ़ा लोकनाटकों का गहराई से अध्ययन करें तो यह सत्य स्पष्ट हो जाता है।

नकल करना भी हंसी की जड़ है। इन लोकनाटकों में किसी भी बातचीत, चाल-ढाल, वेषभूषा आदि की नकल जब विनोद के लिए की जाती है तब हंसी का प्रादुर्भाव होता है। लोकनाटकों में हास्य की व्यापकता को स्वीकारा गया है। इसीलिए इसे अधिक लोकप्रिय बनाने के लिए इनमें हास्य-व्यंग्य की भरमार रहती है।

वर्तमान रूप में शिमला जनपद का स्वरूप 25 जनवरी, 1971 के दिन उभरा। इससे पहले शिमला जनपद महासू क्षेत्र कहलाता रहा। वर्तमान शिमला जनपद का प्रारंभिक स्वरूप 1814 में उभरने लगा। 1827 ई० में कोटखाई-कोटगढ़ और शिमला-भरोली-जतोग इस ज़िला के भाग बने। शेष सारा जनपद छोटी-बड़ी 21 रियासतों में विभक्त रहा। इन रियासतों के शासक—ठाकुर, राणा, राजा, महाराजा कहलाते थे। इन रियासतों की देखभाल के लिए शिमला-पहाड़ी रियासतों के राजनीतिक एजेन्ट शिमला से निगरानी करते रहते थे।

शिमला जनपद वनों, चरागाहों, पर्वतों-वादियों और अन्य प्राकृतिक सम्पदा से सम्पन्न रहा। लेकिन सड़कों, बिजली, शिक्षा तथा अन्य आधुनिक संचार साधनों का दीर्घकाल तक अभाव रहा। स्थानीय जनता की आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति भी अत्यधिक दयनीय थी। जात-पात का बोलबाला रहा। तरह-तरह के न्याय के लिए जनता स्थानीय शासकों और उनके कारिंदों, देवी-देवताओं के निर्णयों पर निर्भर करती थी।

कठिन भौगोलिक परिस्थितियों से घिरी तथा अन्य संचार साधनों के अभाव में जनता के मनोरंजन के प्रमुख साधन मेले, त्यौहार और अन्य लोकोत्सव ही होते थे। ऐसे अवसरों पर लोग रंग-बिरंगी पोशाक एवं अलंकार पहनते और लोकनृत्य, लोकगीतों एवं लोकनाटकों द्वारा अपने दैनिक जीवन की शुष्कता एवं थकावट दूर करते।

15 अप्रैल 1948 के दिन हिमाचल प्रदेश 30 छोटी-बड़ी पहाड़ी रियासतों को मिलाकर एक प्रशासनिक एवं राजनीतिक इकाई के रूप में देश के मानचित्र पर उभरा। इसी के साथ शिमला जनपद की 21 रियासतों को मिलाकर महासू ज़िला बना गया। महासू ज़िला

एवं हिमाचल प्रदेश का मुख्यालय शिमला ही रहा। शिमला नगर 25 जनवरी, 1971 तक पंजाब के प्रशासनिक ढांचे का भाग रहा। वास्तव में 15 अगस्त, 1947 तक शिमला पंजाब सरकार एवं भारत सरकार की ग्रीष्मकालीन राजधानी रही। पंजाब के विभाजन के फलस्वरूप 1955 तक शिमला पूर्वी पंजाब की राजधानी रहा। हिमाचल प्रदेश के पूर्ण राज्यत्व प्राप्त होने के फलस्वरूप 25 जनवरी, 1971 से हिमाचल के कुछ जिलों का पुनर्गठन किया गया और शिमला के साथ सारा महासू जिला और सोलन का कुछ भाग मिला दिया गया। परंतु प्रशासनिक ढांचे के फेर-बदल से लोगों की आर्थिक दशा में सुधार और सामाजिक परिवर्तन स्वत: नहीं आ जाता। वह तो संभव हुआ हिमाचल प्रदेश की स्थिति में प्रशासनिक एवं राजनैतिक परिवर्तन से। हिमाचल प्रदेश के प्रशासनिक ढांचे के फलस्वरूप शिमला जनपद के एक सूत्र में पिरोये जाने से इसके सांस्कृतिक जीवन में समरसता आ गई।

लोककला के क्षेत्र में भी सतत प्रयोग होते रहते हैं। नवीन उपलब्धियों एवं नवाचारों को इसलिए सराहा गया कि कलाकार का श्रम, सूझ-बूझ, लोक परंपरा के प्रति आस्था और प्रतिभा का समन्वय उसका प्रयोग बराबर देखा गया। आज भी प्राचीन लोक संचार के प्रभावशाली एवं महत्त्वपूर्ण माध्यमों का भरपूर उपयोग ग्रामीण समाज के लिए आवश्यक है।

शिमला जनपद की जनता सामंतशाही की क्रूरता और शोषण के अधीन पिसती रही। फिर भी लोगों ने अपनी सांस्कृतिक पहचान लोकवार्ता, लोकसाहित्य, लोकगीतों, लोकवाद्यों, लोकनृत्यों एवं लोकनाट्यों द्वारा बनाए रखी। पिछले 43 वर्षों के कठिन संघर्ष, शिक्षा प्रसार, आर्थिक एवं संचार साधनों के विकास के फलस्वरूप इस क्षेत्र के सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन में सहज परिवर्तन आया है। इसकी विभिन्न इकाइयां जो छोटी-छोटी 21 रियासतों में बंटी थीं, अलग-थलग पड़ी थीं, अब एक सूत्र में बंध गई और शिमला जनपद की एक अलग पहचान एक अलग स्वरूप उभरा और अनेक लोक परंपराओं एवं लोकानुरंजन साधनों को विस्तृत रंगमंच मिला। यह क्षेत्र विभिन्न पर्वत श्रृंखलाओं, नदी नालों एवं वनों से घिरा है। हिमाचल के सोलन, सिरमौर, मंडी और कुल्लू जिलों से इसकी सीमा लगती है। शिमला जनपद के जिन प्रमुख लोकनाट्यों का यहां वर्णन किया जा रहा है। वे अपने सीमावर्ती जिलों से प्रभाव ग्रहण करते हैं और दूसरे जिलों में भी इनका आंशिक या प्रभाव रूप में प्रचलन देखा जाता है। क्योंकि लोक कलाओं को प्रशासनिक क्षेत्रों में नहीं बांधा जा सकता इसलिए ऐसा होना स्वाभाविक ही है।

करियाला

शिमला जनपद का यह प्रमुख लोकनाट्य, हिमाचल प्रदेश का एक प्रतिनिधि लोकनाट्य भी है। लोकधर्मी नाट्य-परंपरा के बहुआयामी प्राचीन अर्वाचीन सूत्र करियाले में सुगुंफित है। वैसे तो करियाला सारे प्रदेश में लोकप्रिय है, फिर भी शिमला, सोलन, सिरमौर जनपदों से यह अधिक लोकप्रिय रहा है।

क्या आप ऐसे नाटक की कल्पना कर सकते हैं, जिनका न कोई कथानक हो, न आलेख, न सूत्रधार, न निदेशक, न पूर्वाभ्यास, न रंगमंच, न वेशभूषा, न साज-सज्जा, फिर भी विभिन्न आयुवर्ग के श्रोताओं को रात-रात-भर जागते रखने की क्षमता रखता हो? न बोरियत, न दोहराई, हर बार नया रंग-रूप, नया रस और स्वाद। यह गुण लोकनाट्य करियाला में है।

आमतौर पर करियाला प्रदर्शन के लिए न समय, न ऋतु निर्धारित है। वर्ष-भर कहीं-न-कहीं, इसका प्रदर्शन संभव है। परंतु दीवाली से बूढ़ी दीवाली तक एक मास की अवधि में करियाला गांव-गांव में होता है।

करियाला शब्द की व्युत्पत्ति पहाड़ी भाषा के शब्द करेल (कुरेदना, खोजना, मनौती) से मानी जाती है। इस प्रकार यह लोकजीवन को गहराई से खोज करने, जीवनानुभवों को गंभीरता से विश्लेषित करने और हास-परिहास-व्यंग्यपूर्ण वार्ता में जीवन की अभिव्यक्ति करने का साधन माना जाता है।

करियाला लोकनाटक की प्राचीनता निर्विवाद है। इसका संबंध पौराणिक मिथकों से जोड़ा जाता है। ऐतिहासिक सूत्रों के अनुसार नवीं शताब्दी में नाथ सम्प्रदाय के साधुओं द्वारा स्वांग परंपरा के प्रमाण उपलब्ध होते हैं। करियाला में 'साधु स्वांग' का प्रसंग इस परंपरा का स्मरण कराता है। कुछ लोग इसका उद्भव स्थानीय देवी-देवताओं की मनौतियों से प्रारंभ मानते हैं। कुछ भी हो करियाला लोकनाटक का प्रारंभ धार्मिक अनुष्ठानों से माना जाना चाहिए। इस लोकनाटक में कुछ तत्कालीन समस्याओं को छोड़कर शेष सारा ताना-बाना धार्मिक वातावरण या पृष्ठभूमि से भरा रहता है।

करियाला लोकनाटक के प्रदर्शन के लिए गांव के समीप 20-21 वर्ग फुट की चौकोर जगह पर खुले मैदान में प्राय: चार भेखलटी झाड़ी के चार मोटे डंडे 'चतुरासरा' गाड़कर अलाव या दीवों से चारों ओर प्रकाश फैलाकर करयालची मंचन के लिए स्थान निर्धारित करते हैं। इन डंडों के साथ रस्सी बांधकर तीनों ओर से चादर तान दी जाती है। मंचन के स्थान पर, जिसे 'अखाड़ा' कहा जाता है मध्य में आग जलाकर खाण्डा, धूनी या घियाना की पवित्र अग्नि को साक्षी मानकर करियाला को पवित्र रूप से प्रारंभ किया जाता है।

करियाला के प्रारंभ में अनेक धार्मिक विधियां पूरी की जाती हैं। इनमें प्रमुख हैं चौमुखा दीवटा जलाना—जो चारों दिशाओं का प्रतीक है। भूमि स्पर्श करना, जिससे मां धरती की वंदना की जाती है। अखाड़ा, वाद्य-स्पर्श—जैसे ढोल, नगाड़ा, चिमटा, शहनाई, रणसिंघा, खंजरी और करनाल को नमस्कार करना और घियाना परिक्रमा-जलते अलाव के चारों ओर श्रद्धापूर्वक घूमना।

अखाड़े के एक छोर पर बजंतरी लोकवाद्यों पर बधाई ताल बजाते हैं, जो क्रमश: तीव्र होते-होते थम जाती है। एक छोर से लक्ष्मीरूपा चन्द्रावली घाघरा पहने, चोली लगाए, घूंघट निकाले अखाड़े में प्रवेश करती है। वह सब लोकवाद्य यंत्रों को नमस्कार कर, अलाव की परिक्रमा कर अपने हाथ पर रखी थाली में जलते हुए धूप का धुआं चारों ओर बिखेरती हुई, घूम कर करियाला प्रारंभ होने का संदेश देती है। चंद्रावली कभी अकेले और कभी 'डांगर-कान्हा' के साथ क्रमश: जंग ताल और करियाला ताल में नृत्य करती हुई, अखाड़ा बांधती है। अपने इष्ट देवता, ग्राम देवता के आह्वान के साथ-साथ उपस्थित दर्शकों का स्वागत गेय मंत्रों द्वारा संपन्न करती है। वास्तव में, चंद्रावली की भूमिका स्त्री वेश में पुरुष ही निभाता है।

मंच से चंद्रावली के जाते ही सभी दिशाओं से विचित्र जटाजूटधारी साधू अखाड़े में प्रवेश करते हैं। साधुओं का स्वांग और वार्तालाप करियाला के प्राण समझे जाते हैं। 'अलख निरंजन' के उद्घोष के साथ कहरवा ताल पर मस्ती में उनके पैर थिरकते हुए साधू लोकवाद्यों के आगे शीश नवाते हुए गोल दायरे में अखाड़े में चक्कर लगाते हैं। विदूषक या पूरबिया, डांड,

बौरा, प्रधान और साधू स्वांगों की विषय-वस्तु या कथ्य व्यंग्य और हास-परिहास की पुट के साथ कुछ भी हो सकते हैं। विषय वस्तु धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक कोई भी हो सकती है। करियलची सहज, स्वाभाविक और कुण्ठारहित होता है।

इसके बाद हास-परिहास की झलकियां, व्यंग्य विनोद के छींटे जीवन की अनेक विसंगतियों सम्बंधी वार्तालाप विभिन्न स्वांगों द्वारा प्रदर्शित होते हैं। अंतराल में बजंतरी और लोक नायक लोकगीत, नाट्टी, गिद्धा, रास, गीह और लुड्डी लोकनृत्य प्रस्तुत करते हैं।

हिमाचल प्रदेश का लोक नाट्य करियाला लोकनृत्य, लोकगीत और प्रभावशाली अभिनय की त्रिवेणी बहाकर नौकरशाही, पति-पत्नी संबंध, भटकते युवावर्ग, भ्रष्टाचार और अनेक सामाजिक समस्याओं को अभिव्यक्ति देने का सशक्त एवं प्रभावशाली परंपरागत माध्यम है।

करियाला लोकनाट्य में तत्कालीन सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों के अनुकूल ढल जाने की क्षमता है। इसके दर्शन के लिए टिकट, सभागार, प्रचार, विशेष रंगमंच, प्रकाश व्यवस्था आदि की आवश्यकता नहीं रहती है। लोक कलाकारों की संगीत एवं नृत्य में निपुणता, लोकमानस की गहरी पैठ ही करियाला में नित नया रंग और रस भर देते हैं।

दीर्घकाल से प्रचलित लोकपरंपरा अनुसार करियाला का कोई लिपिवद्ध आलेख नहीं होता। न ही शास्त्रीय नाटक की तरह कोई निश्चित भाषा, परिधि या क्रम होता है। प्रत्येक कलाकार समय, स्थान और निजी कार्यदक्षता द्वारा इसमें उपयुक्त संशोधन और परिवर्धन कर सकता है। करियालटू के निर्देशन पर सारा संवाद सफलतापूर्वक चलता है। अभिनय करने वाले कलाकार संवाद इस ढंग से आगे बढ़ाते हैं, जिससे दर्शकों एवं श्रोताओं पर सीधा प्रभाव पड़ता है। इनके संवाद चुस्त, मुहावरेदार, काव्यात्मक और उपयुक्त कहावतों से भरे रहते हैं। मूलरूप में करियाला स्थानीय बोली मिश्रित हिंदी, उर्दू, अंग्रेजी और पहाड़ी भाषा में प्रस्तुत किया जाता है। वार्तालाप प्राय: तुकांत पसंद रहता है।

श्री हरिश्चन्द्र पराशर के अनुसार यदि करियाला लोकनाट्य देवी-देवता की करेल अर्थात् मनौती के रूप में किया जाए तो करियाला कहलाता है और यदि विवाह-शादी आदि अवसरों पर करें तो बांठड़ा कहलाता है।

करियाला में उपयोग में लाई जाने वाली सारी सामग्री स्थानीय स्रोतों से उपलब्ध होती है। परंतु आजकल समीप के नगर से बनी-बनाई सामग्री जैसे मुखौटे, बाल, मूछें, दुम एवं अन्य सामान उपलब्ध हो जाता है।

करियाला में प्रदर्शन के लिए पौराणिक विषय कृष्णलीला या श्री रामलीला से उपलब्ध कराए जाते हैं। अन्य लोकप्रिय विषय, जो करियाला में प्रदर्शित किए जाते हैं : 'बीवी के लिए झगड़ा', 'लड़की जो भाग जाती है', 'साहूकार और नौकर', 'पिलपिली साहब और नागिन'।

करियाला जैसे लोकप्रिय नाटक की मांग धीरे-धीरे कम होती जा रही है। इसके अनेक कारण हैं। इनमें प्रमुख हैं :

(क) आधुनिक संचार साधनों का तीव्रगति से प्रसार। घर-घर, गांव-गांव में रेडियो, टी० वी० इत्यादि होना।

(ख) पाश्चात्य प्रभाव में पौप संगीत एवं नृत्यों का प्रचलन।

(ग) स्थानीय संस्कृति की उपेक्षा तथा उसके प्रति अरुचि और शहरी सभ्यता का मोह।

(घ) पारंपरिक लोकगीतों, लोकनृत्यों एवं लोकवाद्यों के परंपरागत गायक, नर्तक और

दक्ष बाजगी अपना व्यवसाय छोड़ते जा रहे हैं। वे अधिक कमाई वाले धंधों में जुट गए हैं।

(ङ) व्यवसायिक करियाला-दलों का विघटन।

ठोडा

अनादिकाल से हिमाचल प्रदेश दुर्गम पर्वतीय क्षेत्र होने के कारण किन्नर, खश, गंधर्व, किरात, तथा नाग आदि जनजातियों की भूमि रहा है। हम कह सकते हैं कि पर्वतीय क्षेत्र की लोक परंपराएं, लोकविश्वास और लोक संस्कृति इन आदिम जनजातियों के उदय, संघर्ष और बिखराव का सम्मिश्रण है। इन जनजातियों के शौर्य, साहस, यशोगाथा और जातीय-भावना का प्रतीक लोकनाट्य 'ठोडा' है। इस युद्धकला और वीर रस से परिपूर्ण लोकनाट्य में जातीय वीर परंपरा की भावना स्पष्ट दिखाई देती है।

शिमला जनपद के लोकनाट्य 'ठोडा' के बारे में आज भी एक पहाड़ी-भाषा की कहावत प्रसिद्ध है—'पीपली रा मसाला, ठोडे रा खेल' में अनेक समानताएं हैं। ठोडा के संवादों में हास्य रस और व्यंग्य बाणों की जो झड़ी लग जाती है, वह उसी तरह है, जैसे पिपली यानी मिर्च का चटपटा मसाला होता है।

'ठोडा' लोकनाट्य शिमला जनपद में कई शताब्दियों से स्थानीय मेलों एवं अन्य लोकोत्सवों पर दो परंपरागत प्रतिद्वंद्वी दलों—शाठी (कौरव) और पाशी (पांडव) के बीच तीर-कमान से खेला जाता रहा है। यह रात को नहीं, दिन को ही खुली जगह पर प्रदर्शित किया जाता है।

स्थानीय किवंदंतियों एवं लोक परंपरा अनुसार यह लोकनाट्य महाभारत काल से कौरवों और पांडवों के युद्ध के प्रतीक के रूप में, युद्ध की स्मृति में आज भी प्रदर्शित होता है।

डॉ० बंशीराम शर्मा के अनुसार, "वैदिक युग का एक अत्यंत प्रसिद्ध 'मह', 'धनुर्मह' अर्थात् धनुर्विद्या उत्सव भी था। इस उत्सव के अवसर पर धनुर्विद्या का अभ्यास किया जाता था। उस समय वैदिक आर्य आदिवासियों के साथ युद्ध करने के लिए इस विद्या में पारंगत होना आवश्यक समझते थे। इसका अर्थ यह हुआ कि तत्कालीन आदिम जातियां भी धनुर्विद्या में पारंगत होती होंगी।..."[1] हिमाचल प्रदेश के शिमला जनपद में आज भी दूरस्थ क्षेत्रों के ग्रामवासी धनुर्विद्या का अभ्यास करते हैं और अपनी साधना की सफलता मेलों एवं अन्य उत्सवों पर 'ठोडा' लोकनाट्य में खोजते हैं।

'ठोडा' लोकनाट्य प्रदर्शित करने के लिए परस्पर विरोधी दोनों दल—शाठी और पाशी अपनी विशेष वेषभूषा में—घुटनों तक मोटे पाजामा (सूथन) और मोटे बूट पहने, धनुष-बाण हाथ में लिए, लोगों की भीड़ (मेले में) के बीच में खाली रखे गए स्थान पर ठोडा ताल (युद्ध ताल) पर नाचते हुए और प्रतिद्वंद्वी को युद्ध के लिए ललकारते हुए प्रवेश करते हैं—'गुरु पूजा मेरिया तेरी जूबड़ी दा'। (तेरा गुरु मैदान में पहुंच गया है।)

ठोडा में उपयोग किए जाने वाले उपकरणों में तीर शरी या शर की लंबाई एक-डेढ़ मीटर तक होती है। यह तीर अक्सर 'नगाली' की छड़ का होता है। बाण का सिरा कुछ चपटा होता है ताकि उसके कारण प्रतिद्वंद्वी की टांग पर अधिक गहरी चोट न लग सके। यही ठोडा

1. हिमप्रस्थ, नवम्बर, 1979 (पृ० 4)

कहलाता है। प्राय: सभी खिलाड़ी अपने पहनने के वस्त्र आदि अपने साथ लाते हैं। धनुष या धनु चांवा (स्थानीय लकड़ी) का बना होता है। इसकी लंबाई लगभग 2 मीटर होती है।

श्री तुलसी रमण के एक लेख के अनुसार, "ठोडा जहां खेल के रूप में प्रसिद्ध है, वहां नृत्य तथा नाट्य भी है। इसमें 'खेल' होता है धनुष-बाण का, नाच उठते हैं खिलाड़ियों के वीर रस से प्रफुल्लित विशाल वक्षस्थल तथा बलिष्ठ भुजदण्ड नाट्य—होता है महाभारत युद्ध का। शिमला जनपद में घूंड, ठलोग, ठयोग, शिरगुली, रेंजटा, अड़ग, शवाल, भखोग का ठोडा लोक नाट्य अधिक प्रसिद्ध है।[1]

ठोडा नाट्य एक प्रकार से दो प्रतिद्वंद्वी दलों के बीच खेला जाता है। इसे प्रदर्शित करते समय कुछ नियमों का पालन किया जाता है। ढोल-नगाड़े जैसे लोकवाद्यों की ताल पर खिलाड़ी ठोडा नृत्य प्रारंभ करते हैं। प्रत्येक ठोडा योद्धा अपने प्रतिद्वंद्वी को पहले शरी चलाने के लिए कहता है। पहले शरी चलाने वाला या पिछली बार हारा हुआ प्रतिद्वंद्वी ही ठोडा का प्रारंभ करता है। चूंकि इसे धर्म युद्ध समझकर लोग खेलते हैं इसलिए तीर घुटने से नीचे और टखने से ऊपर टांग (पिंडली) पर लगना चाहिए। दूसरा प्रतिद्वंद्वी तीव्रगति से टांगें इधर-उधर नचाता है। तीर चलाने वाला शरी-कमान पर चढ़ाकर कानों तक खींचकर घुटने और टखने के बीच टांग पर निशाना बांधता है। यदि निशाना लक्ष्य पर लग जाए तो तीर चलाने वाला एक लंबी चीख के साथ ऊंची छलांग लगाता है और उसका जोश देखने वाला होता है। ऐसी कई जोड़ियां एक साथ ठोडा खेलती हैं और योद्धा एक-दूसरे को चुनौती देते हुए ललकारते हैं। एक-दूसरे को स्थानीय बोली में व्यंग्य-बाणों की झड़ी से भी खरी-खोटी सुनाते हैं।

ठोडा लोकनाट्य केवल वीर खश या राजपूतों (खूंदों) में प्रचलित है।

आज भी जिस गांव में मेला जुटता है, वे लोग अपने गांव के कुछ चुने हुए लोगों को ठोडा खेलने वाले खूंदों के गांव में ग्राम के देवी-देवता के कारदार को या सार्वजनिक जल स्रोतों के समीप झाड़ियों की कुछ टहनियां मार्ग में प्रतीकात्मक रूप में, रुकावट के लिए डाल देते हैं। इसके बाद गांव की सीमा के बाहर खड़े होकर गांव के मुखिया को ठोडा खेलने के लिए पुकारते हैं। निमंत्रित गांव के खूंद मिलकर सभा (खुमली) करते हैं और सहर्ष ठोडा का निमंत्रण स्वीकार करते हैं। ठोडा में विजय प्राप्ति के लिए वे पूरी तैयारी करते हैं। निश्चित दिन ग्राम देवी-देवता की पूजा अर्चना के बाद आशीर्वाद प्राप्त कर उत्सव के लिए प्रस्थान करते हैं।

गंतव्य स्थान पर जाने के लिए सभी प्रशिक्षित ठोडा खिलाड़ी एवं अन्य ग्रामवासी गांव की ठौड़ (खूंदों की वीरता का प्रतीक रूप समाधि) पर एकत्र होते हैं। गांव के लोकवाद्य ढोल, नगाड़े, शहनाई, करनाल, दमामे की समवेत धुन के साथ ग्रामवासी हाथ में लंबे डंडे, धनुष-बाण, तलवारें, डांगरु उठाए ठोडा ताल पर नाचते हुए आगे बढ़ते हैं। नगाड़े की टंकार घाटी में गूंज उठती है और बीच में करनाल और शहनाई भी बजती रहती है। ऐसे अवसरों पर युद्ध-गीत भी गाए जाते हैं :

बीशू लाला रिजंटं, मोरनै रा खेलौ भईया
घीऊ जौलौ घैंवलियै, बाटी दो न तेलौ भाईया
जागह बड़ी नाऊओ री, हिंवणौ रो पाणी भाईया
ठाहरि मूलै ठेकरे खुमलि न पाणी भाईया

---

1. कुल्लु दशहरा स्मारिका 1979, पृ० 28 'मेल मिलने के'।

जागह उतरि नाऊ औ री, देखौलै कीशौ भाईया
डेवे न खूंदा बिशूऐ, हारैत न दीशौ भाईया
फागिया लाए कोलिया नगारे दे न काछू भाईया
बौढ़ा हुंदा खौशिया फिरदा नी पाछू भाईया
एहरो लागा बोलदा सैरणटा ज्याला भाईया
लाणी दा एथा कडलै छोड़ना मोहाला भाईया
ऊंची जागह नाऊऔ रि कियाऔ मुहाला भाईया
सूता हुंदा खौशिया जिलकि न जाला भाइया

अर्थात् चौपाहल में रेंजटा जगह पर बिशु का मेला जुट रहा है। इस मेले में शत्रुओं से झगड़ा होगा। नाऊ गांव ऊंची जगह पर स्थित है। वहां बर्फ़ का ठंडा पानी बहता है। गांव के वीर लोगों (खूंदों) ने पंचायत में निर्णय लिया कि विरोधियों से डटकर मुकाबला होगा। सभी तैयार होकर चलें। फागी कोली को नगाड़े उठाने के लिए कहा गया। वीर पुरुष (खशिया) जब रणभूमि की ओर चल पड़ते हैं, तब पीछे नहीं हटते। अन्य सारे साथियों को तैयार करने के लिए बंदूकों को हवा में दाग दिया गया। इस मेले में कुछ लोग मारे भी गए थे।

ऐसे ही अनेक युद्धगीत गाते हुए, युद्धताल पर नाचते हुए गांव के वीर लोग उत्सव स्थान पर पहुंच जाते हैं। वहां पर रंग-बिरंगे वस्त्र पहने उत्सुक दर्शक खुले मैदान में शाठी और पाशी दल के ठोडा लोकनाट्य का भरपूर आनंद उठाते हैं। बजंतरी अपने लोकवाद्यों सहित मैदान के एक छोर पर बैठकर ठोडा ताल बजाते रहते हैं।

ठोडा के लिए किसी विशेष रंगमंच की आवश्यकता नहीं रहती। खुला मैदान ही काफी है। अन्य कुछ रंगमंच के उपकरण नहीं चाहिए।

मैदान में पहुंचकर पाशा पक्ष का एक खिलाड़ी एक हाथ में धनुष और दूसरे में बाण लेकर खुली जगह पर नाचता और ललकारता हुआ आगे बढ़ता है—मेरे धाह शुणे ठोडे खेलने रे पाणू रामा। (हे पाणू राम ठोडा खेलने की मेरी ललकार को अच्छी तरह सुन ले !) वह अपने धनुष को चूमता है और बाण को हिलाता हुआ अपने कुल देवता, ग्राम देवता और भगवती दुर्गा का नाम लेता हुआ अपने विरोधी को मैदान में आने के लिए ललकारता है—

देऔ शिरगुलों री जुबड़ी दा पूजा औ खूंद खौशिया। (वीर खश, देवता शिर्गुल के मैदान में पहुंच गया है।) ऐसी ही अनेक ललकारों से परस्पर विरोधियों को ललकारा जाता है।

ठोडा लोकनाट्य का क्रम सुर्यास्त तक चला रहता है। बारी-बारी तीर चलाने और सहने का क्रम जोड़ियों के बीच चलता रहता है।

वास्तव में ठोडा प्रतियोगिता में बड़ी साधना और तैयारी की आवश्यकता रहती है। यदि तैयारी न हो तो पहाड़ी (महासुवी) में कहावत प्रसिद्ध है—**'धाटौ आजो ठठईरौ, देऔ सूथणौ दि पाणौ'** (आग लगे कुआं खोदना)। भावार्थ यही है कि जो ठोडा जैसे कठिन कार्य के लिए तैयार होकर नहीं जाता, वह हार जाता है।

लोकभाषा में व्यंग्य और हास्य का अपना ही बांकपन रहता है। दोनों दलों के खिलाड़ी अपने प्रतिद्वंद्वी को चीख-चीखकर पुकारते हैं। इस प्रश्न-उत्तर की ललकार में दोनों दल अपने प्रसिद्ध और वीर पूर्वजों के शौर्य एवं साहस की दुहाई देते हुए नाचते हैं।

ठोडा लोकनाट्य में एक-दूसरे के विरुद्ध खिलाड़ी व्यंग्य-बाणों की झड़ी लगा देते हैं।

उसके कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

—ऊंची जागहै रा खौशिया पूजा औ (ऊंची जगह का खश पहुंचा है ।) हा, हा !

—ऊबे बीउजे मेरियै ठोडियै (हे वीरों की समाधि जाग जा ।) हा, हा !

—ब्रागौ रै ब्रागटू संगै नहीं खेली मेरिया छोह्टुआ (बाघ के बच्चे से खेलने जैसा है मेरे साथ) हा, हा !

—सुतै दौ सीहओ न बझेले मेरिया जयरामा (सोये शेर को मत जगाना जयराम ।) हा, हा !

—जेसरा बाप शिकारि हौला, सैं शूकी नहीं खांदा (जिसका बाप शिकारी वह सूखी नहीं खाता ।) हा, हा !

—तेरौ खैं जेहरो सूरजू री देवठी खाई (वैसा खा जैसा सूरजू की देवठी में खाते हैं ।) हा, हा !

—जीवंदै ब्रागौ रो कालजो नहीं मिल दो रामलाला (जीवित बाघ का कलेजा नहीं मिलता-रामलाल ।) हा, हा !

इस संवाद के चलते हा, हा की गूंज के बीच दर्शक ठोडा का आनंद उठाते हैं ।

चुनौतीपूर्ण व्यंग्य की भाषा में प्रकट किए गए विचार ठोडा लोकनाटक के वास्तविक स्वरूप को प्रस्तुत करते हैं । यह लोकनाटक दिन में चार-पांच घंटे तक प्रदर्शित होता है । कभी-कभी ठोडा खेल के नियमों के उलंघन के फलस्वरूप दो दलों में तलवारें, डांगरु और लाठियां भी चल पड़ती हैं ।

प्रत्येक गांव के मेले में जहां ठोडा खेला जाता है, आमंत्रित खिलाड़ियों व ठोडा दल के सभी लोगों का रात-भर विशेष अतिथि सत्कार होता है । मेले वाले गांव के सभी घरों में आमंत्रित लोगों को वांटकर रखा जाता है ।

वैसे तो ठोडा प्रदर्शन के लिए वैशाख का महीना उचित समय समझा जाता है, परंतु विशेष आयोजन होने पर आषाढ़, सावन, भादों के उत्सवों पर किसी भी महीने इसका आयोजन संभव है ।

शिमला तथा सिरमौर के कई स्थानों में ठोडा का खेल विशेष आकर्षण है और कुछ स्थानों में देवता द्वारा बंद कर दिया गया है । जैसे कोटखाई में घियाल परगना में यह पिछले 150 वर्षों से वर्जित है । कहते हैं कि लगभग 150 वर्ष पहले 'रामौ री कराली' मैदान में ठोडा का प्रदर्शन हो रहा था । प्रधान देवता 'वेंद्रा' के साथ गांव मंझोली का डूम देवता भी आमंत्रित था । खेलते समय किसी खिलाड़ी का बाण प्रतिद्वंद्वी की जगह डूम देवता के मोहरे के गाल पर लग गया । देवता बहुत कुपित हुआ और ठोडा का प्रदर्शन अपने प्रभाव क्षेत्र में बंद करा दिया ।

हिमाचल प्रदेश के युवा एवं खेल विभाग द्वारा पिछले दो-तीन वर्षों से शिमला जनपद में ठोडा प्रदर्शन की प्रतियोगिता प्रतिवर्ष परंपरागत ढंग से आयोजित की जा रही है । भाषा एवं संस्कृति विभाग द्वारा एक सांस्कृतिक धरोहर के रूप में इसके आयोजन कराये जाते रहे हैं । परंपरागत लोकनाटकों के गुणों को ध्यान में रखते हुए इन्हें सुरक्षित एवं जीवित रखने की आवश्यकता है ।

बूढ़ा लोकनाट्य

'बूढ़ा' शिमला जनपद का प्राचीन परंपरागत गीति-नाट्य है । इस लोकनाट्य की

विभिन्न स्थानों पर अनेक शैलियां प्रचलित हैं। बूढ़ा प्रायः बूढ़ी दिवाली के आस-पास प्रदर्शित होता है। परंपरा अनुसार गांव के हरिजन नृत्य दल बनाकर लोकवाद्यों की मधुर गूंज के साथ, विशेषकर उन घरों में नाचते गाते हुए जाते हैं, जहां उस वर्ष के दौरान पुत्र जन्म हुआ हो या अन्य कोई शुभ घटना घटी हो। बूढ़ा द्वारा वे अपनी शुभकामनाएं अभिव्यक्त करते हैं और घर का मालिक उन्हें अनाज, वस्त्र और पैसों द्वारा पुरस्कृत भी करता है।

इस गीति-नाट्य दल में दस से पचास तक सदस्य रहते हैं। संगीत वाद्यों में ढोलकी, खंजरी, हुड़क, डमरु, ढोल, चंकू, बांसुरी या शहनाई रहती है। यह लोकगायक दल पहले ग्राम-देवता के प्रांगण में देवगाथा गाते हैं और नाचते हैं। लोकवादक एक ओर बैठ जाते हैं, और खंजरी की तान पर किसी घटना का गीतात्मक रूप में बखान प्रारंभ कर देते हैं। दल के अन्य सदस्यों में से कुछ लकड़ी के बने मुखौटे पहन लेते हैं जिन पर रंगीन मिट्टी का रंग चढ़ाया जाता है। गाथा गीत में वर्णित घटनाओं पर मूक अभिनय प्रस्तुत करते हैं। संगीत और प्रणय बूढ़ा लोकनाटक के प्रमुख संघटक हैं।

यह लोक नाटक अब अधिक लोकप्रिय नहीं। कारण लोक कलाकारों का अभाव है।

सिंह

बूढ़ा गीति-नाट्य के साथ-साथ शिमला जनपद में सिंह लोकनाट्य भी प्रचलित रहा। यह गीति नाट्य की अपेक्षा नृत्य-नाट्य है। यह प्रायः वैशाखी के दिनों में प्रदर्शित होता है। यह नृत्य-नाट्य भी परंपरागत रूप में स्थानीय हरिजनों द्वारा प्रदर्शित किया जाता रहा है। बूढ़ा की तरह इसके प्रदर्शन के लिए किसी विशेष रंगमंच की आवश्यकता नहीं होती। यह भी प्रायः ग्रामदेवता के मंदिर के सामने खुली जगह पर प्रदर्शित होता रहा है। कुछ लोकगायक स्थान विशेष के एक ओर बैठकर खंजरी की तान पर गाथा-गीत का गायन प्रारंभ कर देते हैं। तभी अभिनेता शेर का मुखौटा पहने उपस्थित हो जाता है। कथा के गायन के साथ-साथ अभिनय करते हुए खंजरी की ताल पर लोक नृत्य प्रदर्शित करते हैं। वह प्रायः मूक अभिनय करते हैं। केवल 'हू', 'हू' ध्वनि करते चलते हैं।

सिंह नृत्य-नाट्य में गाथा गीत द्वारा स्थानीय घटनाओं का प्रदर्शन होता है। इसमें अन्य विषय के अतिरिक्त श्रृंगार रस की प्रधानता रहती है। इस लोकनाटक द्वारा सामाजिक विसंगतियों का साधारण लोक भाषा में अभिनय द्वारा प्रभावशाली प्रदर्शन होता है। इसमें हास्य-व्यंग्य का भी सम्मिश्रण रहता है। प्रायः डींगें मारने वाले युवक का मजाक उड़ाया जाता है। युवती को उसके साथ-साथ भाग जाने के बाद ही वास्तविकता मालूम हो जाती है। लोक-गीत द्वारा उसकी सारी शेखी निकल जाती है।

उतली चाम्बा-चौंरी, चौंरी मूले पाणी।
नोएं भलावी देवसिया राजै केरी राणी॥
तू तो चोले था देवसिया थाली-मगाली मेरैं।
हाण्डका ठीकरा कोष्टा देखियौ आयू तेरै॥
तू बोलै देवसिया पौन्द्रौ सूई गावी।
लिण्डे बौलद हाण्डीया थौरटैं लावी॥......

हे प्रियतम ! तू तो कहता था कि मैं तुझे रानी बनाऊंगा। मेरे घर में चांदी के थाल हैं,

पर वहाँ तो मिट्टी के ठीकरे और लकड़ी के कोष्ठे हैं। कहां हैं, तेरी वह पंद्रह गाएं ? तेरे पास तो दुम-कटा बैल भी नहीं।

एक अन्य कथा गीत में ग्राम्य युवती और किसी रावल परिवार के युवक की प्रेमकथा का वर्णन आता है। ससुर रावल परिवार की बुराई करता है। रावल बुरे लोग हैं। वे भिक्षा मांगते हैं। परंतु युवती पर पिता की सीख का प्रभाव नहीं पड़ता। वह उस युवक के साथ प्रेम विवाह कर लेती है। कुछ दिनों बाद प्रेमी उसे छोड़कर भाग जाता है। तब लड़की को पछतावा होता है। पिता से क्षमा याचन के साथ-साथ अफीम खाकर मर जाने की बात कहती है। या रस्सी गले में बांधकर आत्महत्या कर लेगी।

गायक कलाकार के अतिरिक्त अन्य कलाकार मुखौटे पहनकर गीत की भावना के अनुरूप अभिनय करते हैं। स्त्री का अभिनय भी पुरुष कलाकार ही करते हैं। इस लोक नाटक द्वारा स्थानीय घटनाओं का गीतों और अभिनय द्वारा प्रदर्शन होता है। बाहरी विषय इस में शामिल नहीं किए जाते।

अब यह लोकनाटक कभी-कभी प्रदर्शित होते है। ग्रामीण समाज की रुचि भी तीव्रवति से हो रहे परिवर्तन के साथ बदल रही है।

स्वांग

स्वांग लोकनाट्य हिमाचल प्रदेश के अनेक जनपदों में विभिन्न रूपों में प्रस्तुत किया जाता है। कहीं यह अन्य लोकनाटकों के एक दृश्य या अंग के रूप में प्रदर्शित किया जाता है और कहीं स्वतंत्र झलक के रूप में। यह ठेठ ग्रामीण लोकरंजन है। हास्य-व्यंग्य द्वारा जीवन के सत्य का उद्घाटन इसका मूल उद्देश्य रहता है। जैसा कि शब्द से स्पष्ट है यह असल का नकली रूप है। किसी घटना, संबंध, चरित्र, रिवाज, फैशन, दिखावा का नकल द्वारा प्रदर्शन करना है। इसमें कथोपकथन गौण और व्यंग्य-प्रधान रहता है। शिमला जनपद में स्वांग लोकनाट्य विभिन्न शैलियों में प्रस्तुत किया जाता है। कुछ जगहों पर दीवाली की रात, बूढ़ी दीवाली, चढ़ेउली सक्रांति आदि त्यौहारों के अवसर पर इसका प्रदर्शन किया जाता है।

ऐसे अवसरों पर लोग खंजरी, नगारा, हुड़क, दमामा की ताल पर नाचते और गाते है। जहां स्वांग प्रदर्शित होता है, वहां एक बड़ा विधान या अलाव जलाया जाता है। यह अंधेरे में प्रकाश, और ठंड से बचाव का काम भी करता है।

स्वांग लोकनाट्य में प्राय: दो-चार कलाकार ही मुखौटा पहनकर एक स्त्री—दूसरा पुरुष की वेषभूषा में कभी सास-बहू, जवांई-सास-ससुर, भाई-भाई के असंगति पूर्ण संबंधों पर द्वेष-आक्षेप (लैम्पून) की भी महत्वपूर्ण भूमिका रहती है।

स्वांग की एक झलक देखिए। मुखौटा पहने पुरुष, साथ में स्त्री का मुखौटा पहने अन्य कलाकार की बातचीत का हिंदी रूपांतर है—

पुरुष—तू कौन ?

स्त्री—मैं नन्हकू की सास हूं (दर्शकों में ने किसी का नाम)

पुरुष—क्यों आई है ?

स्त्री—अपने जवांई राजा को मिलने। बहुत दिन से मिली नहीं।

पुरुष—क्यों मिलना चाहती है ?

स्त्री—उसे समझाऊंगी । मेरी लड़की उससे दुखी है। वह शराब पीता है। भंग पीता है। दूसरी स्त्री के साथ घूमता है।

पुरुष—वह तो कहता है तुम्हारी बेटी कुछ काम नहीं करती। जवांई की मां से अच्छा व्यवहार नहीं करती। नए सूट-बूट मांगती है।

स्त्री—तो क्या हुआ ? ज़माना बदल गया है। स्वयं पुरुष नए फैशन करता है। काम नहीं करता। अपने व्यवहार का ज्ञान नहीं। नारी को दासी बनाकर रखना चाहता है। वह भी उसकी तरह पढ़ी-लिखी है। वह भी क्यों ऐसा करे। वह भी आजादी चाहती है। मेरा बेटा नन्हकू कहां है में उसे खोज रही हूं।

पुरुष—वह तो कहीं सुल्फे का दम लगा रहा होगा।

इसी तरह स्थानीय परिवेश के अनुकूल स्वांग की बातचीत और अभिनय द्वारा भावाभिव्यक्ति प्रदर्शित की जाती है।

इन सभी लोकनाटकों के कुछ चरित्र केवल थोड़ी-सी झलक दिखाकर कहीं गुम हो जाते हैं और कुछ केवल दर्शकों के मनोविनोद के लिए प्रकट होते हैं। साहित्यिक नाटकों की तरह चरित्र चित्रण इन नाटकों का मूल उद्देश्य कभी नहीं रहा।

स्वांग, सिंह और बूढ़ा जैसे लोकनाटक, ग्राम्य लोकनाट्य परम्परा में पहाड़ी लोकमानस की अनुकरणमूलक प्रवृत्तियों, कल्पनाओं और क्रियात्मक-अनुभूतियों के सहज रूप हैं। इन सब लोकनाट्यों की उत्पत्ति, विकास और प्रसार में लोकविश्वास, लोकाचार, धार्मिक रूढ़ियां, लोक परम्पराएं, वीर पूजा भावना और लोकानुरंजन के उद्देश्य कार्यरत रहते हैं। इन लोकनाट्यों के प्रत्येक दृश्य द्वारा बहुसंख्यक ग्राम्य जनता आज भी श्रव्य एवं दृश्य लोककाव्य का रसास्वादन सहज ही कर लेती है।

शिमला जनपद के ये लोकनाट्य अनेक शैलियों में जन साधारण के सामने प्रदर्शित किए जाते हैं। इन शैलियों में लीला शैली, स्वांग शैली, भांड शैली, गुरु-चेला शैली, नृत्यगीत शैली, इत्यादि में शाडम्बर हीन रंग-मंच, पूर्वाभास का अभाव, दर्शक और अभिनेता के बीच सामंजस्य, बाह्य प्रसाधनों का अभाव, प्रतीकों का महत्व जैसी विशिष्टताएं मिलती हैं।

लोकनाटकों की परम्परा को सुरक्षित रखने के लिए उन्हें पुनर्जीवन देने के लिए यदि इस अंचल के नाटककार कुछ प्रमुख और लोकप्रिय लोककथाओं और लोकगाथाओं की आधुनिक संदर्भ में मंचीय प्रस्तुतियां लोक नाट्य शैली में तैयार करते हैं तो सार्थक प्रयास होगा।

[अम्बिका निवास, संजोली, शिमला, 171006]

धनबाद में हिन्दी साहित्य सम्मेलन

☐ मदन हिमाचली

बिहार राज्य के धनवाद नगर में 11-13 जनवरी, 1991 को हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग का 46वां वार्षिक सम्मेलन सम्पन्न हुआ। इसमें भारत के विभिन्न प्रांतों से आए लगभग 250 प्रतिनिधियों ने भाग लिया।

11 जनवरी सायं 5 बजे सम्मेलन का उद्‌घाटन साहित्य वाचस्पति पद्मश्री आचार्य क्षेमचन्द्र सुमन द्वारा सम्पन्न हुआ। बिहार के भाषा राज्य मंत्री श्री विजयचन्द्र दुबे इस समारोह के विशेष अतिथि थे।

सभी साहित्यकारों का बिहार में पधारने के लिए जहां राज्य मंत्री ने अभिवादन किया, वहाँ गिरते हुए जीवन-मूल्यों पर भी चिन्ता व्यक्त की।

अपने अध्यक्षीय भाषण में सुमन जी ने कहा कि पांच वर्षों के अंतराल में हमसे कुछ ऐसी विभूतियां जुदा हो गई हैं जिन्हें हिन्दी की विभिन्न विधाओं तथा शैलियों के संवाहक तथा पोषक होने का गौरव प्राप्त था। इनमें देवनारायण द्विवेदी, कालिका प्रसाद दीक्षित, हरिशंकर इत्यादि प्रमुख थे। विहार के साहित्यकारों का उल्लेख करते हुए, आचार्य सुमन ने कहा कि यदि हिन्दी साहित्य के इतिहास से बिहारी साहित्यकारों को निकाल दिया जाय तो वह अधूरा रह जाएगा। हिन्दी भाषा पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने कहा कि हमारे देश में अनेक धर्म और भाषाएं होते हुए भी संस्कृति का ऐसा माध्यम है जो हमें काश्मीर से कन्याकुमारी तक एकता के सूत्र में बांधे हुए है, उसे हम हिन्दी के रूप में जानते हैं। देश में फैली हुई अनेक भाषाओं और संस्कृतियों के बीच यदि भारतीय जीवन की उदात्तता एवं एकात्मकता किसी भाषा में दिखाई देती है तो वह हिन्दी है। उन्होंने हिन्दी के वर्तमान स्वरूप पर टिप्पणी करते हुए कहा कि देश का यह दुर्भाग्य है कि जिस हिन्दी के माध्यम से स्वतंत्रता संग्राम लड़ा गया और हम स्वतंत्र हुए आज 44 वर्ष वाद भी हिन्दी को वह पद नहीं मिल सका जिसकी वह अधिकारिणी है।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग के प्रधानमंत्री श्री श्रीधर शास्त्री ने, जहां एक ओर संस्था की गतिविधियों पर प्रकाश डाला वहां समस्त साहित्यकारों, संपादकों, पत्रकारों तथा अध्यक्ष व मुख्यातिथि के प्रति आभार भी व्यक्त किया।

सुमन जी की अध्यक्षता में ही, प्रथम सत्र का शुभारंभ हुआ। इस सत्र में—'हिंदी साहित्य में अस्मिता की खोज' विषय पर शोध-पत्र पढ़े गए। पत्र प्रस्तुत कर्ता सर्व श्री उमेश प्रसाद शास्त्री, डॉ० रमेश प्रसाद सिन्हा, डॉ० विन्देश्वरी प्रसाद गुप्त, प्रो० सिद्धेश्वर, डॉ०

शंकरलाल थे। बहस का निष्कर्ष यह रहा कि भारत के सम्पूर्ण साहित्य का जब तक मूल्यांकन नहीं होता तब तक अस्मिता की खोज अधूरी है। खोज एक ऐसा माध्यम है जिसका कहीं अंत नहीं है, अतः इस कार्य को जारी रखना अनिवार्य है। सभी का यह मत था कि भारतीय साहित्य में अस्मिता की रक्षा सभ्यता और संस्कृति की गरिमा, आरंभिक और आध्यात्मिक उत्कर्ष, राष्ट्रीयता, सामाजिक और मानवीय चेतना अभिव्यक्त होती है। भारतीय साहित्य की अस्मिता की खोज के लिए हमें जन विशिष्ट से नहीं अपितु जन-सामान्य से जुड़ना होगा और चिंतन को आवाम के महासागर में नमक की तरह घोलना होगा तभी अस्मिता की खोज संभव हो पायेगी।

द्वितीय सत्र सायं 4 वजे प्रारंभ हुआ। इस सत्र का प्रमुख विषय 'राज भाषा के कार्यान्वयन में संस्थाओं तथा बुद्धिजीवियों की रचनात्मक भूमिका' था। बहस में अंग्रेजी का वर्चस्व हिन्दी के लिए घातक बताया गया। सरकारी कानून होते हुए भी हिन्दी को हृदय से न स्वीकार करने पर भी चिन्ता व्यक्त की गई। भारत के बुद्धिजीवी वर्ग की, स्वार्थपरतावश दैनिक जीवन में हिन्दी को न अपनाने पर भी चिंता प्रकट की गई। क्षेत्रीय भाषाओं को हिंदी का पोषक बताया गया तथा जनगणना में अपनी मातृभाषा को हिन्दी लिखवाने की प्रेरणा दी गई।

इस सत्र की अध्यक्षता लखनऊ विश्वविद्यालय के डॉ० सूर्य प्रकाश दीक्षित ने की। उन्होंने कहा कि हमें हिन्दी को लोकप्रिय वनाना है और भारत के निवासियों के दिलों में हिन्दी के प्रति अनुराग पैदा करना है। इस अवसर पर डॉ० सूर्य प्रकाश दीक्षित ने हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग की स्मारिका 'राजभाषा हिन्दी' का भी विमोचन किया।

रात को 'काव्य रात्रि' का आयोजन किया गया, जो तृतीय प्रहर तक चलता रहा। इस काव्य रात्रि की अध्यक्षता—श्री शरदकुमार मिश्र शरद ने की।

इसमें डॉ० तेजपाल चौधरी, श्री अयोध्या प्रसाद अंचल, श्री त्रिलोकीनाथ तरुण, डॉ० तेजनारायण, प्रो० सिद्धेश्वर, मदन हिमाचली, डॉ० युगजीत, नवलपुरी, श्रीमती नूतन आनंद, श्री गौरीनाथ द्विवेदी, शरद रंजन शरद, श्री कैलाश इत्यादि 96 कवियों ने भाग लिया। मंच संचालन श्री विन्देश्वर प्रसाद गुप्त ने किया।

तेरह जनवरी का दिन आयुर्वेद सम्मेलन के लिए समर्पित था। इस सम्मेलन की अध्यक्षता, राजवैद्य श्री सुरेन्द्रनाथ दीक्षित ने की।

आयुर्वेद चिकित्सा पद्धति के गिरते स्तर पर चिन्ता व्यक्त की गई। मुख्य वक्ता सर्व श्री ब्रह्म विद्याश्री मित्र, कविराज विद्यानारायण शास्त्री, अयोध्या प्रसाद शास्त्री, डॉ० रामेश्वर मिश्र प्रमुख वक्ता थे। सभी चिंतकों का यह मत था कि आयुर्वेद के माध्यम से, उपाधि लेने वाले तथा आजीविका उपार्जन करने वाले भी—अंग्रेजी दवाइयों के पीछे भागकर आयुर्वैदिक चिकित्सा पद्धति को अपमानित कर रहे हैं। हमारा यह नैतिक कर्तव्य है कि हम आयुर्वैदिक चिकित्सा पद्धति को जनमानस तक पहुंचाकर इसके विकास के लिए प्रयत्नशील हों। एलोपैथिक पद्धति में शल्य चिकित्सा-आयुर्वेद की देन है।

अपने अध्यक्षीय भाषण में श्री दीक्षित ने कहा कि हमने आयुर्वैदिक चिकित्सकों को उचित अधिकार दिलाए हैं अव उनका भी कर्तव्य है कि वह आयुर्वैदिक चिकित्सा पद्धति के प्रति समर्पण की भावना से कार्य करें।

नाहन का आर्ट-क्राफ्ट मेला

☐ संतोष उत्सुक

पिछले दिनों नाहन में आयोजित 'आर्ट एण्ड क्राफ्ट मेला' के समारोह में प्रदेश के शिक्षा, भाषा एवं संस्कृति मंत्री श्री राधारमण शास्त्री ने कहा, 'ज़िंदगी में हम जो कुछ भी अच्छा करते हैं वह कला में शामिल है।' उन्होंने नाहन में इस आयोजन को अभूतपूर्व बताया और वास्तव में यह आयोजन नाहन ही नहीं पूरे सिरमौर ज़िला में अपनी तरह का पहला मेला था। नाहन की धरती नई-नई संस्थाओं को जन्म देने में काफी उपजाऊ है। यह आयोजन भी एक नई संस्था 'युनाईटेड आर्टिस्ट' की तरफ से हुआ। मुख्यतः श्री अनब व उनके तीन सहयोगियों ने इस आयोजन में अपनी हिम्मत और लगन का परिचय दिया। रोटरी क्लब नाहन, रोट्रैक्ट व इनरव्हील क्लब भी पीछे नहीं रहे।

इस आयोजन में 10 से अधिक, अलग-अलग दिनों में प्रतियोगिताएं सम्पन्न हुईं। समूह गान, हिमाचली लोकनृत्य, ड्रिफ्टवुड, दिखावटी पौधे, क्राफ्ट वर्क, फोकड्रैस, फोटोग्राफी, चित्रकला, रंगोली व मेंहदी। इनमें आयोजकों के अनुसार सबसे ज़्यादा दिलचस्पी रंगोली और मेंहदी में दिखी। 'ऑन द स्पाट पेन्टिंग प्रतियोगिता' की प्रायोजक भारतीय स्टेट बैंक की नाहन शाखा थी। यह शाखा इस तरह के सांस्कृतिक, सामाजिक व कलातमक आयोजन कराकर सांस्कृतिक जीवन में अच्छा दखल दे रही है।

मेले में 150 प्रतिभागी कलाकार थे और 85 किस्म की कलाकृतियों का प्रदर्शन था। कुछ स्टाल्ज़ भी लगाए गए थे; जिनमें स्कूल के बच्चों की नन्हीं उभरती प्रतिभाओं का कमाल देखने को मिला। इंदिरा लेडीज़ क्लब द्वारा सिलाई सीखने वाली महिलाओं का सिलाई कार्य भी प्रदर्शित था। कला प्रदर्शनी से गुज़रने के बाद हमारे भारतीय दर्शकों को भूख ज़रूर लगती है, सो इस आर्ट मेले में गर्मागरम पकौड़े, भटूरे-छोले और कॉफी का प्रावधान इनरव्हील व रोट्रैक्ट क्लब की ओर से था।

कुछ चुनिंदा कलाकारों सर्वश्री बसन्तकुमार, प्रेमचन्द, नासिर युसफज़ई व शाकिर अहमद क़ुरैशी की कलाकृतियों की प्रदर्शनी अलग से एक हाल में लगाई गई थी। यह हाल कभी स्कवैश खेलने के लिए प्रयोग होता था। श्री बसन्त कुमार ने हज़ारों बच्चों को कला-विषय पढ़ाया है। वे एम० ए० हिस्ट्री आफ फाईन आर्ट्स हैं। उनके पास कुछ अनूठे ड्रिफ्ट-वुडस भी संचयित हैं। इस मेले में प्रदर्शित उनके चित्रों में बेहद सधापन दिखा मगर सब्जेक्ट सभी पेन्टिंगज़ का एक-सा था, अन्य कलाकारों से खासा प्रेरित लगा। प्रेमचन्द, ग्राफिक्स में सम्मानित कलाकार हैं। यहां उन्होंने कुछ नए प्रयोग किए थे। प्लाईवुड में प्रिन्टस कटिंग करके

कुछ अनाम कृतियां उन्होंने पेश की थीं। उनकी सबसे बढ़िया प्रस्तुति एक सोबर पेन्टिंग थी जिसमें रंगों का खूबसूरत संयोजन था। हरफनमौला शौकिया कलाकार नासिर युसफज़ई की कुछ नई पेन्टिंगज़ देखने को मिली। पर यहां उनका रंगों का प्रयोग कुछ ज्यादा ही बोल्ड व अटपटा लगा, एक तरह का ख़तरा लिए। उनके ब्रश का अंदाज़ बदलता दिखा हालांकि एक बैलेंस उन्होंने सभी चित्रों में बनाए रखा, लेकिन कमी खली सोबरनैस की। शाकिर अहमद कुरैशी पेशे से साईन बोर्ड लेखक हैं मगर उनके वाटर कलर्ज़ व चारकोल के प्रयोग से लगता है कि वे अपनी ही कलात्मकता व एक अलग संयोजन रखते हैं। चारकोल का प्रयोग उनके हाथों ने खूबसूरती से किया। अन्य कुछ प्रतिभागियों की चर्चा भी लाज़मी है। सबसे पहले सुश्री उषा की बात करें। उनके कुछ तैल-चित्र जो अक्तूबर '66 या उस समय के आसपास की रचनाएं हैं प्रभावशाली लगे। पूरी क्रियेटिविटी, रंगों का सहज सुंदर, सौम्य समन्वय लिए हुए। उनकी इन प्रस्तुतियों को खूबसूरत यादें कहा जाए तो और बेहतर होगा। उनके अनुसार ज़िन्दगी के पर्यावरण में उनका ब्रश जम गया है वरन् वे कुछ और यादगार कृतियां दे सकती थीं। एक और महत्त्वपूर्ण बात है उनका हॉबिस्ट होना। किसी ने ठीक कहा है शौकिया कलाकार कलाक्षेत्र में ज्यादा अच्छे बीज बो सकते हैं।

मीनू पुण्डीर के हाथों ने मैटी में क्रास स्टिचिंग करके कमाल रचा। उनकी कृतियां स्टाल में सही जगह प्रदर्शित नहीं हो पाईं। इनकी कृतियां भी एकल प्रदर्शन मांगती हैं। प्रो० राजीव सिंह भी एक शौकिया चित्रकार हैं। उनके ब्रश को, ख़ासतौर से वृक्ष, मिट्टी और वो भी बरसात के बाद निखार लिए प्रकृति को जीवंतता प्रदान करने में, महारत हासिल है। इनकी पेन्टिंगज़ भी भीड़ से अलग रहीं।

पेंसिल के एक युवा चितेरे निर्भय कंवर ने प्रतियोगिता में भाग नहीं लिया पर चंद कलाकृतियों को बार-बार यह कहा कि उन्हें एक बड़ा, स्वतंत्र कैनवास चाहिए। निर्भय के हाथों में जान है। उनके मानस पटल पर विचार ही विचार उगे हैं जो सोचने को मजबूर करते हैं। उन्हें छोटी उम्र में ही पेंसिल का प्रयोग करना आ गया है।

रेणुका के हरदेवसिंह को भी कपड़े काटकर, वस्त्र के टुकड़ों को कितने ही रूप देना बखूबी आता है। उनकी कृतियां भी अलग-सी थीं। फोटोग्राफी में तीन प्रतियोगी थे। सभी चित्र बढ़िया। विचार की नज़र से देखें तो प्रेमकुमार सैनी के चित्रों में ज्यादा लाईफ स्टडी थी। उनकी मेहनत का परिणाम था इनकी ये प्रस्तुतियां। उनकी कुछ तस्वीरें 'लखदाता पीर की मज़ार' व 'शिव मंदिर' अब ऐतिहासिक है। क्योंकि इन दोनों कलात्मक ईमारतों का स्वरूप काफी बदल चुका है। फ्लावर अरेन्जमेंट में सबसे अलग थी अलका चौहान। काले कांटों के साथ हरी बेल और थर्मोस्टेट के अटपटे फूलों का मिला-जुला प्रयोग था और शीर्षक था 'लाईफ इज़ नॉट ए बैंड ऑफ फ्लावर्ज़ ओनली' यह कृति फ्लावर अरेन्जमेंट जैसी नहीं थी पर फिर भी यह 'फ्लावर अरेन्जमेंट' था। गुड़िया एक युवा लड़के सुहैल कुमार ने बनाई थी। लगता था किसी लड़की ने बनाई होगी। क्योंकि लड़कियों की तरफ से गुड़िया थी ही नहीं। सुहैल ने मेहनत की थी। नाहन की अद्वितीय प्रतिभा स्वर्गीय अन्नू की पेन्टिंग 'सोहनी महिवाल' जो कि उन्होंने पद्मश्री सोभासिंह की इजाजत से और उनके सामने शुरू की भी इस आयोजन में थी। मगर वह मेले में खो गई। सही जगह डिस्पले नहीं हुई।

ड्रिफ्टवुड के वरिष्ठ संग्रहकारों का संचयन न होकर, नए संग्रहकर्ताओं ने कुछ नमूने

पेश किए । एक कलाकार ने प्रकृति की इस कलात्मक उपज में अपनी ओर से रंग भरकर या कुछ जोड़कर नवीनता देने की कोशिश की थी ।

कला मेला में नकल का काफी प्रभाव रहा। जाने क्यों उभरते कलाकार नकल की लुटिया से बाहर अपना ब्रश नहीं निकालते। कुछ नकलें अच्छी थीं। उभरते कलाकारों को सही दिशा की ज़रूरत होती है । एक पेन्टिंग का शीर्षक 'ब्राइडग्रूम' लिखा था फिर रचयिता को ध्यान आया कि ये दुल्हन की तस्वीर है तो 'ग्रूम' काट दिया। एक ड्रिफ्टवुड कृति को 'कौबरा स्नेक' शीर्षक दिया गया था क्या 'कौबरा मैन' भी होता है । राजेन्द्र की पेपर स्टिचिंग से माडलिंग व जितेन्द्र का 'लायन' अच्छी कृतियाँ थीं। क्राफ्ट वर्क में असंख्य कृतियां थीं जिनमें कुछ बेहतर भी थीं ।

कोई भी आयोजन एक अच्छे अनुशासन के साथ ही पूरा हुआ करता है। आज अनुशासन और सही सूझबूझ की कमी हर जगह दीखने लगी है। इस आयोजन की बात करें तो सबसे बड़ी व महत्त्वपूर्ण बात जो नहीं हो सकी वह थी एक 'कैटालॉग' का प्रकाशन । ऐसे कला आयोजन में कैटालॉग तो होना ही चाहिए ताकि बरसों याद दिलाता रहे। पेन्टिंग्स पर कहीं कलाकार का नाम था तो कहीं शीर्षक, कहीं दोनों गायब । कम-से-कम यह तो पता चलता कि रचयिता कौन है । कुछ स्टाल्स में कृतियां जगह की कमी के कारण सही तरीके से डिस्पले नहीं हो पाई । कृतियों की बहुतायत के कारण भी ऐसा हुआ ।

जब कृतियां ज्यादा हों तो पहले से कलाकृतियां मंगाकर कृतियों का एक बेहतर चयन ही प्रदर्शित करना चाहिए ताकि आयोजन का स्तर भी मुखरित हो। यह नहीं होना चाहिए कि जो मर्जी आए अपनी रचना पेश करो क्वालिटी भी शर्त होनी चाहिए ।

आयोजकों की तरफ से ढेर सारे पुरस्कार दिए गए । उत्सव स्मृति स्वरूप मुख्य अतिथि, कु० श्यामा शर्मा विधायिका, ज़िलाधीश श्री भीमसेन व विजेताओं सहयोगियों को भी। यहां तक कि टैंट लगाने वाले सहयोगी को भी स्मृति भेंट दी गई। उधर अधिकतर कलाकार जो विजेता नहीं थे सोच रहे थे काश उन्हें इस आयोजन का एक प्रमाण-पत्र ही मिल जाता।

आयोजन सम्पन्न होने के बाद एक याद बन जाता है । यह भव्य आयोजन केवल याद नहीं बल्कि ज़िला सिरमौर के कलाकारों व सर्जकों को बार-बार यह याद दिलाने का सबब होगा कि उन्हें कला की अथाह दुनिया में निरंतर कुछ-न-कुछ कन्ट्रीब्यूट करते रहना है ।

[भारतीय स्टेट बैंक, रजाना-173023 तह० रेणुका जी, ज़ि० सिरमौर (हि० प्र०)]

लोक की ओर वापसी

□ नंदगोपाल

उत्तर क्षेत्र सांस्कृतिक केन्द्र पटियाला द्वारा आयोजित नौ दिवसीय नाट्य उत्सव (जिसमें महाभोज की शाम खाली रही और नीले घोड़े का सवार नहीं पहुंचा) देखने पर महसूस हुआ कि आज का नाटक परम्परागत सैट, अभिनय और उससे जुड़े सम्वादात्मक सम्पर्क से हट चुका है। अब नाटक का केन्द्र है नृत्य संगीत से भरपूर लोक पर आधारित ऑपेरा। यह तकरीबन नृत्य-नाटिका के करीब का है जिसमें बीच-बीच में नाटकीय अभिनय को भी स्थान दिया गया है। उत्सव के लगभग सभी नाटक लोक शैली को लेकर आगे बढ़ते हैं, लोक-नृत्य व संगीत के साथ।

पहले और तीसरे दिन के नाटक थे—शकुन्तला और महाभोज (डोगरी) दोनों ही नाटक पहले कई बार खेले जा चुके हैं। यहां दोनों नाटक लोकशील में हुए। हाल ही में दोनों नाटक नादिकर राष्ट्रीय नाट्य समारोह कलकत्ता में दिखाए गए हैं। कालिदास का अभिज्ञान शकुन्तलम् और उसका मोहन राकेश या मशक्त अनुवाद। नाटक मणिपुरी शैली में किया गय, नृत्य और धुनें भी मणिपुरी। मणिपुरी लोक की छाप से इस नाटक में एक नयापन उभार आया। मणिपुरी धुनों ने संस्कृत श्लोकों के गायन में अजब मिठास भर दी। इस लय में शकुन्तला की विदाई वेला का गायन मन को छू गया। रंग मण्डल, भारत भवन भोपाल द्वारा प्रस्तुत जनसंख्या इबोतोम्बी के निर्देशन ने मणिपुरी रंग परम्परा से इस नाटक को नए आयाम दिये। रात मण्डप श्लोक संकीर्तन का प्रयोग सार्थक रहा।

डोगरी में मंचित महाभोज, बलवन्त ठाकुर द्वारा निर्देशित था। बलबन्त ठाकुर शिमला के लिए नया नाम नहीं है। इन्होंने दो वर्ष पूर्व 'हिमाचल की कहानी' नाम से नृत्य नाटिका तैयार की थी। गेयटी थियेटर में ही 'बाबा जित्तो' का मंचन हुआ। 'भोमा' के बाद 'महाभोज, की प्रस्तुति सामने आई। संगीत नाटक अकादमी, दिल्ली के इलाहाबाद में हुए उत्तरी क्षेत्र नाट्य समारोह में प्रथम आए इस नाटक की दिल्ली तथा कलकत्ता में प्रस्तुतियाँ हो चुकी हैं।

एक सशक्त स्क्रिप्ट वाले नाटक को शरीर की भाषा से अपेरा शैली में व्यक्त किया गया। बिना संवाद साधे, बिना कोई सैट लगाए अंग की भाषा से संवाद और भव्य सैट लगाए अंगों की भाषा से संवाद और भव्य सैट खड़े कर देना 'बाडी थियेटर' का कौशल है। बाडी मूवमेंट की एक नहीं सम्प्रेषण शक्ति इस नाटक में देखने को मिली नृत्य गीत और लाठी के

माध्यम से। शरीर के सृजनात्मक प्रयोग द्वारा दफ्तर, दीवार बनाए गए और विजुअल इमेज के साथ एक जिंदा थियेटर प्रस्तुत किया।

रंग मंडल भोपाल द्वारा ही फ़िट्ज बेनेविटज के निर्देशन में 'पैसा फैंक तमाशा देख' दूसरे दिन की प्रस्तुति थी। इस नाटक में कृष्णा रामपुरिया के परिचय के साथ गीत-संगीत के संग नाटक आगे बढ़ा। नई तकनीक के प्रयोग से नाटक प्रभावी रहा। फ़िट्ज वेनेबिट्ज़ द्वारा भारत में निर्देशित यह बीसवाँ नाटक है।

रंगमण्डल, मण्डी द्वारा प्रस्तुत पांचवें दिन हुआ 'जुगल तन्त्रम' एक औपन्यासिक कृति का नाट्य रूपान्तर कर इसमें जंगली जानवरों के माध्यम से आज की राजनीति और लोकतांत्रिक प्रणाली को दिखाया गया। यह नाटक पहले भी एक उत्सव में गेयटी थियेटर में खेला जा चुका है। सिंह, मोर, नाग, चूहे के चिरित्रों के माध्यम से राजनेता, प्रशासक, पूंजीपति और आम आदमी को प्रस्तुत किया गया। कुछ पात्रों के बदले जाने से इस बार की प्रस्तुति पहले से कमजोर रही।

पंजाबी की माटी से जुड़े दो नाटक थे। तीसरे दिन 'राजा रसालू, तथा छठे दिन 'नाग छाया' दोनों ही लोक कथाओं पर आधारित थे। राजा रसालू जहां एक परम्परागत लोक कथा का नाटकीकरण था, वहां नाग छाया एक लोककथा की आधुनिक मनोवैज्ञानिक प्रस्तुति। इसमें एक लोक परम्परा से लोक संगीत नृत्य के माध्यम से एक सशक्त अभिव्यक्ति दी गई है। इच्छाधारी नाग तथा अपने वास्तविक पति, दोनों के प्रतिकूल व्यक्तित्व को निभाती हुई नारी का चित्रण जिस मनोवैज्ञानिक ढंग व प्रतीकों के माध्यम से किया गया, वह सराहनीय है। नारी की नाग-परीक्षा और यह कहना "मैंने अपने जीवन में केवल अपने पति और नाग को छुआ है", नाटक का मर्म है। बी० वी० कारंत के संगीत ने पंजाब के फोक को उजागर किया। 'द कम्पनी' चण्डीगढ़ तथा नीलम मान सिंह चौधरी द्वारा निर्देशित नाटक पुरातन कथा के माध्यम से आधुनिक भाववोध को व्यक्त करता है।

'चरणदास चोर' की अंतिम प्रस्तुति से पूर्व 'नीले घोड़े के सवार' ने आना था, जो पहुंच नहीं पाया। उस शाम हवीव तनवीर का 'जमादारिन' दिखाया गया। नया थियेटर, दिल्ली द्वारा हवीव तनवीर के निर्देशन में चरणदास चोर ने दर्शकों का मन चुरा लिया। छत्तीसगढ़ी लोकशैली में प्रस्तुत यह एक उत्कृष्ट संरचना सिद्ध हुई।

लोक शैली की ओर नाटकों की वापसी एक सुखद संयोग है। किन्तु इस नाटक को देखकर कुछ सवाल उठते हैं कि क्या नृत्य-संगीत का सहारा लेकर आगे बढ़ने वाले नाटकों में अभिनय क्षमता देखने की संभावनाएं कम तो नहीं हो जातीं। ऐसे नाटकों में परकाया प्रवेश के अवसर तो मिलते हैं पर कम।

जीवन संघर्ष से जुड़ी कला

ललित कला अकादमी दिल्ली, राष्ट्रीय कला केन्द्र लखनऊ तथा स्थानीय अकादमी द्वारा शिमला में कलाकारों का समागम हुआ। अवसर था तृतीय उत्तरी क्षेत्र कला प्रदर्शनी और ऑल इण्डिया मल्टी मीडिया आर्टिस्ट कैम्प का आयोजन। यह समागम 18 से 25 दिसम्बर तक स्थानीय वाई० डब्ल्यू० सी० ए० हॉल में हुआ।

1984 में स्थापित राष्ट्रीय कला केन्द्र लखनऊ कला के विकास को समर्पित देश के कुल चार केन्द्रों में से एक है। केन्द्र के मानद सचिव अखिलेश निगम ने बताया कि ऐसी प्रदर्शनी का आयोजन उत्तर प्रदेश से बाहर पहली बार किया जा रहा है। केन्द्र के कार्यक्षेत्र में उत्तरी भारत के छः राज्य तथा एक केन्द्र शासित प्रदेश है।

प्रदर्शनी का उद्घाटन शिक्षा तथा भाषा-संस्कृति मंत्री श्री राधारमण शास्त्री ने किया।

राष्ट्रीय कला केन्द्र लखनऊ द्वारा कुल चालीस कलाकारों की कला-कृतियां आमन्त्रित की गई थीं। जिनमें उन्नतीस कलाकारों की कला यहां प्रदर्शित हुई।

जीवन तथा जीवन के संघर्ष से जुड़े चित्र प्रदर्शनी में विद्यमान थे। टैम्परा, तैल, जलरंग पैंसिल, पैन तथा मिक्स मीडिया, सभी का प्रयोग इन विविध चित्रों में हुआ है।

ललित कला दिल्ली द्वारा आयोजित राष्ट्रीय प्रदर्शनी, त्रिवार्षिक कला प्रदर्शनी, अनुसंधान, सेमीनार, कला प्रकाशन, छात्रवृति के अतिरिक्त मल्टी मीडिया कैम्प का आयोजन भी एक गतिविधि है जो इस वर्ष शिमला में हो रही है। इस कैम्प में विभिन्न विधाओं के सात कलाकार आए हैं। प्रदेश के पांच कलाकार भी इस कैम्प में शामिल हुए हैं।

कला आंखों के माध्यम से आत्मा को छूने वाली चीज है। रंगों से सभी तूलिका जब केनवास पर रेंगती है तो नयी सृजनात्मक शक्ति के साथ नई जमीन तोड़ती है। शिमला की एक ऐतिहासिक बिल्डिंग में लगे इस कैम्प में तपन घोष, नवीन धगद तथा जे० पी० यादव जैसे वरिष्ठ कलाकारों के साथ एन० जगदीश पेंटिंग में तथा आनन्द निकम और कुमार धर्मेन्द्र ग्राफिक्स में कार्य कर रहे हैं। स्थानीय कलाकारों में एच० सी० राय, एस० के० चटर्जी, सुरजीत एम० सी० सक्सेना तथा कांगड़ा कलम के चितेरे ओम सुजानपुरी ने भाग लिया।

कैम्प में निर्मित कला-कृतियां मात्र चित्र न होकर मानवीय संवेदना से ओत-प्रोत जीवन्त रचनाएं हैं।

स्कल्पचर में एक मात्र काष्ठ कलाकार विजय वेल हैं जिन्हें वर्ष, 1990 में ललित कला अकादमी दिल्ली से ब्रांज के लिए राष्ट्रीय पुरस्कार मिला है इनकी काष्ठ-कलाकृति 'पिंजरे में उल्लू' दर्शनीय है।

—न० गो०

छायाचित्र प्रदर्शनी के माध्यम से हिमाचल दर्शन

☐ हेमकांत कात्यायन

भाषा एवं संस्कृति विभाग, युवा सेवा एवं खेल विभाग तथा जनसत्ता के संयुक्त तत्त्वावधान में आयोजित श्री बीरबल शर्मा की छायाचित्र प्रदर्शनी देखने की लोगों में बड़ी उत्कंठा बनी हुई थी। 12 जनवरी, 1991 को ठीक दस बजे मंडी संसदीय क्षेत्र के सांसद महेश्वर सिंह ने इस प्रदर्शनी का विधिवत् उद्घाटन किया। गांधी भवन का हॉल छायाचित्रों के प्रेमियों प्रशंसकों, कला-पारखियों से खचाखच भर गया। पहले यह आयोजन तीन दिन के लिए रखा गया था लेकिन दर्शकों की इच्छा को देखते हुए इसे दो दिन के लिए और बढ़ा दिया गया।

इन छायाचित्रों की विशेषता यह रही कि छायाकार ने न केवल मंडी जनपद बल्कि पूरे हिमाचली परिवेश को कैमरे में कैद कर रखा था। प्रदेश की भौगोलिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और परंपराओं को दर्शाने वाले 150 छायाचित्र यहां प्रदर्शित थे। कुछ छायाचित्र प्रदेश के प्राकृतिक सौंदर्य की अनुपम छटा को दर्शाते तो कुछ में चंबा, मंडी, लाहौल, कांगड़ा, शिमला, सिरमौर, स्पिति, कुल्लू, हमीरपुर, बिलासपुर आदि के पुरातात्विक महत्त्व के मंदिरों, पर्यटन-स्थलों, सुन्दर झीलों, नदियों से संगमों, भित्ति-चित्रों, यहां के रीति-रिवाजों, धार्मिक रस्मों आदि को बीरबल शर्मा ने कैमरे की आँख से उतारकर प्रस्तुत किया। पारंपरिक वेषभूषा को भी सुन्दर छायाकलाकृतियों के माध्यम से दर्शाया गया। दर्शक बार-बार उन छायाचित्रों को देख रहे थे जो कभी भी आम-दर्शकों के लिए देखना संभव नहीं हो सकता था। कुंजम जोत पर कुंजम देवी, जलोडी जोत, चंबा पांगी का मुख्यालय किलाड, पट्टन घाटी लाहौल, सांगला घाटी, भू-भू जोत आदि ऐसे बीसियों छायाचित्र भी प्रदर्शित किए गए थे कि उन्हें देखते हुए भी मन सिहर उठता था। वास्तव में बीरबल शर्मा ने प्रदेश के दुर्गम अंचलों में जाकर दुर्लभ छायाचित्र संजोये हैं।

बीरबल शर्मा पिछले बीस वर्षों से इस व्यवसाय से जुड़े हुए हैं, उनके लुड्डी नृत्य करते कलाकार, बाठंडा लोकनाट्य की एक झलक, चंबा गद्दी नृत्य, क्रय-विक्रय आदि छायाचित्र चर्चित रहे हैं।

छायाकार बीरबल शर्मा का इस बारे में कहना है कि हिमाचल प्रदेश इतनी विविधता लिए हुए है जितना काम करो थोड़ा है लेकिन इसके लिए पैदल यात्रा भी जरूरी है। यहां की परंपराओं, पहाड़ी लोगों के कठिन जीवन, उनकी आस्थाओं से जुड़ी जीवन की छवियों को छाया में बांधना वह अपना दायित्व मानते हैं।

एक व्यवसायिक छायाकार से हटकर बीरबल शर्मा ने जो कुछ भी इस प्रदर्शनी में

रखा उससे भी कहीं अधिक हजारों की संख्या में छायाचित्र उनके पास संग्रहीत हैं। जो इन्होंने अपने व्यवसाय से समय निकालकर दुर्गम स्थलों की पैदल यात्रा कर संजोये हैं। हालांकि, इस समय फोटोग्राफी काफी खर्चीला और समय बरबाद करने वाला शौक है पर, बीरबल शर्मा अपने इस शौक को पूरा करने के लिए अपनी व्यावसायिक पूंजी से कुछ हिस्सा बचाकर इस कार्य में लगाते हैं। इस समय भी इनके पास सैंकड़ों श्याम श्वेत व रंगीन छाया-चित्र तथा रंगीन पारदर्शियां हैं जिन्हें वे एक छायाचित्र गैलरी बनाकर उसमें संजोये रखना चाहते हैं। बीरबल शर्मा ने अपने को केवल व्यावसायिक छायाकार ही नहीं रहने दिया बल्कि अपनी प्रतिभा को एक कलाकार की तरह आगे लाया है यह एक सुखद बात है वर्ना व्याव-सायिकता में अनेक प्रतिभाएँ धन के मोह में पड़कर डूब जाती हैं।

दर्शक पुस्तिका पर सभी ने इस आयोजन की सराहना की और इस बात पर जोर दिया कि इस प्रकार के आयोजन न केवल ज़िला स्तर पर बल्कि प्रदेश एवं राष्ट्रीय स्तर पर आयोजित होने चाहिए ताकि, हिमाचल की सही तस्वीर को इन छाया-चित्रों के माध्यम से देखा जा सके।

बिहार और हिमाचल का सांस्कृतिक आदान-प्रदान

राष्ट्रीय संगीत नाटक अकादमी की अन्तर्राज्य सांस्कृतिक आदान-प्रदान की महत्वा-कांक्षी योजना गत कई वर्षों से चल रही है। इस योजना के तहत प्रति वर्ष प्रत्येक राज्य के सांस्कृतिक दल दो अन्य राज्यों की यात्रा पर जाते हैं। और किन्हीं दो राज्यों के दल उस राज्य में आते हैं। दलों के आदान-प्रदान का यह क्रम सभी राज्यों के संस्कृति निदेशक की केन्द्रीय स्तर पर एक बैठक में निश्चित किया जाता है। इस योजना के अन्तर्गत गत वर्ष में हिमाचल प्रदेश में विभिन्न राज्यों के लगभग अठारह दल आ चुके हैं और लगभग बीस दल देश के विभिन्न प्रदेशों में हिमाचल से गए हैं।

सांस्कृतिक कार्यक्रम से अब सीधा-सा अर्थ लिया जाता है—नाच-गाने का कार्यक्रम। यहां तक कि लोग रंगमंच, शास्त्रीय संगीत व नृत्य को भी सांस्कृतिक कार्यक्रम नहीं मानते। महज लोकनृत्यों पर आधारित कार्यक्रम ही सांस्कृतिक कार्यक्रम कहे जा रहे हैं। व्यापक और गहन अर्थों को समेटने वाला 'संस्कृति' शब्द जैसे लोक नृत्य का ही बोधक रह गया है। यह बात हमारे राज्य में तो प्रचलित है ही बल्कि दूसरे राज्यों से आने वाले दलों के कार्यक्रम देखकर भी अक्सर यही आभास होता है कि संस्कृति इन लोकनृत्यों में सिमटकर रह गई है। यह अलग बात है कि दक्षिण भारतीय राज्यों और बंगाल व मध्य प्रदेश जैसे कला संपन्न राज्यों से कुछ शास्त्रीय विधाओं और नाटक आदि को भी इसके अन्तर्गत प्राथमिकता दी जाती है। यहां यह तात्पर्य नहीं कि नोकनृत्य संस्कृति के क्षेत्र में महत्वपूर्ण नहीं होते बल्कि वास्त-विकता यह है कि भारत जैसे विभिन्न जातियों, धर्मों और जीवन पद्धतियों के देश में ये लोक नृत्य यहां के विभिन्न अंचलों का प्रतिनिधित्व करते हुए भारतीय सामाजिक संस्कृति की छवियां प्रस्तुत करते हैं। लेकिन इसका मतलब यह नहीं हो जाता कि लोकनृत्य ही संस्कृति है और इनकी प्रस्तुति सांस्कृतिक कार्यक्रम। वास्तव में संस्कृति के अन्तर्गत जीवन को अभि-

व्यक्त करने और मांजने वाली लोक और शास्त्रीय, निष्पादन और ललित, वास्तुशिल्प और साहित्य सृजन आदि से जुड़ी सभी कलाएं आती हैं।

गत वर्ष नवम्बर महीने में हिमाचल का सांस्कृतिक दल बिहार की यात्रा पर गया था और बिहार राज्य का सांस्कृतिक दल इस वर्ष 17 से 24 फरवरी के बीच हिमाचल प्रदेश की यात्रा पर रहा। इस दल के कार्यक्रम भी लोक संगीत एवं लोक-नृत्य पर आधारित थे। इस दल ने परवाणु, हमीरपुर, पालमपुर, कुल्लू और मण्डी में अपने कार्यक्रम प्रस्तुत करने के बाद शिमला में गेयटी (प्रेक्षागृह) में अपना आखिरी कार्यक्रम प्रस्तुत किया। बिहार के कलाकारों ने पराती, फगुआ, सोहर, कजरी और झूमर आदि बिहार के विभिन्न अंचलों के पारम्परिक लोक नृत्य प्रस्तुत किए। इसके अतिरिक्त भोजपुरी लोकगीत भी प्रस्तुत किए गये। भोजपुरी लोक संगीत के प्रसिद्ध कलाकार अजीत कुमार अकेला इस दल में शामिल रहे।

कार्यक्रम के प्रारम्भ में आयुक्त एवं सचिव, भाषा-संस्कृति श्री कृष्णचन्द्र शर्मा ने इस आयोजन के मुख्य अतिथि, मुख्यमन्त्री हिमाचल प्रदेश श्री शान्ताकुमार, शिक्षा, भाषा एवं संस्कृति मन्त्री श्री राधारमण शास्त्री तथा बिहार से आए कलाकार दल का स्वागत करते हुए कहा कि इस तरह का सांस्कृतिक आदान-प्रदान आदमी और आदमी के बीच सद्भाव बढ़ाने में सार्थक सिद्ध होता है।

शिक्षा, भाषा एवं संस्कृति मन्त्री श्री राधारमण शास्त्री ने इस अवसर पर कहा कि बिहार की सांस्कृतिक परम्परा बहुत समृद्ध है हम नालन्दा और पाटलीपुत्र जैसे प्राचीन सांस्कृतिक केन्द्रों से इतिहास के माध्यम से परिचित हैं। मुख्य मन्त्री श्री शान्ताकुमार ने कहा कि सांस्कृतिक आदान-प्रदान की परम्परा शंकराचार्य ने शुरू की थी। यहां उनका तात्पर्य देश की चार दिशाओं में शंकराचार्य द्वारा स्थापित चार धामों से था। जिनकी यात्रा के बहाने आज भी अखण्ड भारत के लोग पूरे देश की यात्रा कर लेते हैं। वास्तव में यह यात्रा को आस्था से जोड़ना था और इस तरह यात्रा और आस्था दोनों जीवन और संस्कृति से जुड़ जाते हैं।

'बिहार की परम्परा' की बात करें तो, एक समय था जब समृद्ध भारत की राजधानी मगध में रही। अथर्ववेद में जिस मगध का जिक्र आता है वही इससे पूर्व ऋग्वेद में कीटक था। पाल वंश के प्रथम राजा भोपाल के काल में यही भूखण्ड बिहार कहलाया। राजा जनक और जानकी सीता के कारण मिथिला (दरभंगा) प्रसिद्ध है। विश्वामित्र की तपोभूमि, दानवीर कर्ण के अंगदेश, गौतम, महावीर, आर्यभट्ट और चाणक्य की इसी भूमि पर मण्डनमिश्र व उनकी पत्नी सरस्वती के साथ शंकराचार्य का शास्त्रार्थ हुआ और शंकाराचार्य सरस्वती से पराजित भी हुए। प्रसिद्ध समकालीन हिन्दी कवि श्रीकान्त वर्मा के 'मगध' शीर्षक काव्य-संग्रह में पाटलिपुत्र, नालन्दा, विदिशा और मिथिला का बार-बार जिक्र आता है। कादम्बरी और हर्ष-चरित के रचयिता उद्भट्ट विद्वान और सृजनशील गद्यकार बाणभट्ट भी मूल रूप से बिहार के निवासी थे। उनका गांव आरा के समीप बताया जाता है। पंचतंत्र के रचयिता पं० विष्णु-शर्मा, भक्ति कवि विद्यापति, चन्द्रकान्ता संतति के लेखक देवकी नन्दन खत्री और ताराशंकर वन्द्योपाध्याय भी बिहार के थे। समकालीन हिन्दी साहित्य को देखें तो कथाकार फणीश्वर नाथ रेणु और कभी नागार्जुन तत्काल सामने आते हैं। मिथिला की धरती से जुड़े प्रखर रचनाकार राजकमल चौधरी से कौन परिचित नहीं है। और यह परम्परा शंकर दयाल सिंह विजय कान्त

और अरुण कमल तक चली आती है।

बिहार के कलाकारों से शिमला के गेयटी प्रेक्षागृह में जब पराती यानी प्रभात वेला की शिव स्तुति आरम्भ की तो लोगों का, हाल की दूरदर्शन पर दिखाए गए रेणु के मैला आंचल में बजने वाला संगीत याद आने लगा। इसी तरह कजरी और झूमर का लोक संगीत भी रेणु के उपन्यासों में बजता रहता है। जिन लोगों ने रेणु के मैला आंचल और परती परिकथा उपन्यासों तथा विभिन्न आंचलिक कहानियों को पढ़ा है उनके लिए बिहार का यह लोक संगीत कतई अपरिचित नहीं। बल्कि रेणु की 'रचनाओं में बजने वाले संगीत के सामने यह मंचीय संगीत कुछ फीका ही पड़ जाता है, क्योंकि यह संगीत जीवन की सर्वांगीणता के साथ बजता है। और मंच पर केवल छिटपुट छवियों की तरह रह जाता है।

पराती के बाद विद्यापति की मैथिली रचना एक भक्ति गीत प्रस्तुत किया गया और इसके पश्चात् गांव में बागीचे में सावन में ग्रामीण बालाएं—

रिमझिम बरसेगा पनिया,
भीजत आवे धनिया

यह कजरी गीत गाती-नाचती मंच पर आती हैं। लोकनृत्यों के साथ लोक जीवन की उपस्थिति रहती ही है। बिहार के एक नये कलाकार ने—

सड़किया पे गाड़ी,
सबसे अगाड़ी
हमार बैल गाड़ी—

—जब यह गीत प्रस्तुत किया तो शिमला के माल रोड़ पर, जहां से रिक्शा भी गायब हो गई है, बिहार की बैलगाड़ी के चलने का अभास होने लगा। पूर्वी लोकगीत में आवाज के आरोह ने अपना प्रभाव छोड़ा। पूर्वी लोक गायकी की यही विशेषता भी है। 'फगुआ' लोक-नृत्य के लिए होली से ठीक पहले का समय भी उचित रहा। बिहार के गांव में धमारशैली का गायन प्रचलित है। गांव के पुरुष ढोल, झाल, मजीरा के साथ झूमते-नाचते हुए गाते हैं।

गुजरात के 'गरवा नृत्य' की तरह बिहार का 'झूमर नृत्य' भी विशेषतया विवाहित महिलाओं का नृत्य है जिसके माध्यम से स्त्रियां अपने पति एवं परिवार वालों के प्रति अपनी कोमल एवं मधुर भावनाएं व्यक्त करती हैं। शिमला के गेयटी में फगुआ' और 'झूमर' का अच्छा प्रभाव जमा। लेकिन इस तरह के लोक-नृत्य वास्तव में खुले मैदान में हुआ करते हैं। जहां लोग इसमें स्वयंमेव शामिल होते जाते हैं। रंगमंच के लिए बने एक छोटे प्रेक्षागृह के सीमित आकार वाले मंच पर लोक-नृत्य में वह उल्लास और उन्मुक्त भाव नहीं रह जाता जो इसका मूल स्वभाव होता है।

—डॉ० हेमप्रभा शर्मा

महेश्वर मंदिर : सुंगरा

निचार तहसील के सुंगरा गांव में दो मंदिर हैं। एक मंदिर पैगोड़ा शैली में बना है और यह दूसरा ढलानदार छत वाला बहुत ऊंचा प्रसिद्ध मंदिर है। इसकी दूसरी विशेषता है कि दो इमारतें एक साथ खड़ी हैं जिनके ऊपर स्लेट का छत एक है। सुंदर नक्काशीयुक्त लकड़ी का बरामदा एक इमारत के कोने से शुरू होकर दूसरी इमारत के दूसरे छोर तक है। यहां दिखाई देने वाले पृष्ठ भागों में बरामदा नहीं है। दीवारें लंबी लकड़ियों व तराशे गए पत्थरों से बनी हैं। दोनों इमारतों को जोड़ते, छत पर लकड़ी के सुंदर ताज (कुरड़) के ठीक बीच शिखर नुमा छोटा-सा चौकोर मंदिर है। लकड़ी की छत वाले इस छोटे मंदिर का अपना अलग ताज है। यह ताज कलात्मक नक्काशीयुक्त है। छोटे-बड़े छतों के चारों किनारों से लकड़ी के सुंदर झालर झूल रहे हैं। देवता सबसे ऊपर की मंजिल में स्थापित है। दोनों इमारतों के बीच से ऊपर को सीढ़ियां जाती हैं। दो इमारतें छत, बरामदे और सीढ़ियों से परस्पर जुड़ी हैं, यही इस मंदिर की विशेषता और सुंदरता है।

उषा देवी मंदिर : निचार

निचार गांव में दो मंदिर हैं। उनमें से यह चार मंजिल का चौकोर मंदिर है। ढलानदार छत स्लेट (पत्थरों) से ढका है। दीवारें तराशे गए पत्थरों तथा एक कोने से दूसरे कोने तक पहुंचने वाली लकड़ी से निर्मित हैं। छत के ऊपर लकड़ी का ताज (कुरड़) यहां नहीं दिखाई देता। सबसे ऊपर की मंजिल में तीन ओर लकड़ी का वरामदा है। इसमें लकड़ी पर नक्काशी सुंदर है। यह मंदिर काफी पुराना है।

आवरण के चित्र

इस अंक के मुख पृष्ठ पर ए० वीणा का चित्रकृति है जिसमें पत्तों भरी टहनी को जीवंत किया गया है।

दूसरे पृष्ठ पर कौमुदी रागिनी पर आधारित लघुचित्र की पारदर्शी प्रकाशित है। पहाड़ी लघु चित्र शैली का यह चित्र राज्य संग्रहालय शिमला में सुरक्षित है। चित्र में नायिक आसन पर बैठी है और सेविका पैर दबा रही है और सिर पर चंबर डोल रहा है। पार्श्व भाग अरण्यानी का दृश्य उभर आया है।

तीसरे पृष्ठ पर पांगी (किलाड़ के निकट) की दैत्य-शिला का छाया चित्र है। पहाड़ों पर प्राकृतिक रूप में ही अनेक चट्टानें विभिन्न आकृतियां ग्रहण किये होती हैं और लोग उनके रूपाकार के अनुसार उन्हें नाम दे देते हैं। इस तरह चंबा ज़िले के दूरस्थ क्षेत्र पांगी की यह दैत्याकार चट्टान भी दैत्य-शिला कही जाती है। लोग इस तरह की प्राकृतिक विलक्षणताओं को देखते हुए ऐसे स्थानों में देव-ध्वज खड़ा करके बहुत जगह पूजा-अर्चना भी प्रारंभ करते रहे हैं।

अंतिम पृष्ठ पर ज़िला कुल्लू में बंजार के निकट स्थित चेहणी गांव की एक प्राचीन कोठी (देव मंदिर) का छात्रा चित्र है। यह कोठी स्थापत्य की दृष्टि से, विशेष रूप से ऊँचाई के कारण अनूठी है। पहाड़ों पर इतने ऊँचे भवनों का निर्माण भौगोलिक दृष्टि से भी नहीं हो पाता क्योंकि एक तो पर्याप्त समतल स्थान ही उपलब्ध नहीं होता और भू-क्षरण से ज़मीन के धसने का भय भी बना रहता है। बावजूद इसके हिमाचल में कुछ स्थानों पर इस तरह के ऊंचे देव-मंदिरों का निर्माण हुआ है जिनमें 'चेहणी कोठी' प्रमुख है।

यह बहुमंज़िला ऊंची 'कोठी' पत्थर व लकड़ी से निर्मित है। इसमें सीमेंट व गारे का प्रयोग नहीं हुआ। तराशे गये पत्थरों की चिनाई के बीच लकड़ी की मोटी शहतीरें चारों दीवारों में कोनों तक पहुंचती लगाई गई हैं और इस तरह चार शहतीरें भवन के चारों कोनों में एक-दूसरी से जुड़ती हैं। इसी से पूरा भवन एक संपूर्ण स्तंभ का रूप ले लेता है। नीचे की मंज़िलें भीतर से भरी रहती हैं और सीढ़ी से ऊपर वाले भाग में ही भीतर मंदिर के कक्ष निर्मित हैं। चेहणी कोठी की सबसे ऊपर की मंज़िल के चारों ओर लकड़ी का बरामदा है और छत सलेट (पत्थर) से ढकी है। यह अपने क्षेत्र में विशेष आकर्षक देव-मंदिर है।

उपहार चित्र में राज्य संग्रहालय शिमला में सुरक्षित रागमाला चित्र श्रृंखला का 'हिंडोल राग' पर आधारित चित्र है। चित्र में राधा-कृष्ण हिंडोले में विराजमान हैं। दो गोपियां झूला झुला रही हैं और दो संगीत बजा रही हैं। पार्श्व भाग में अरण्य का दृश्य है। सामने पक्षी जल विहार कर रहे हैं।

विपाशा
उपहार चित्र हिंडोल राग (रागमाला, राज्य संग्रहालय, शिमला)

VIPASHA-37, MARCH-APRIL, 1991 R.N. 42497/85 PRICE Rs. 2/-

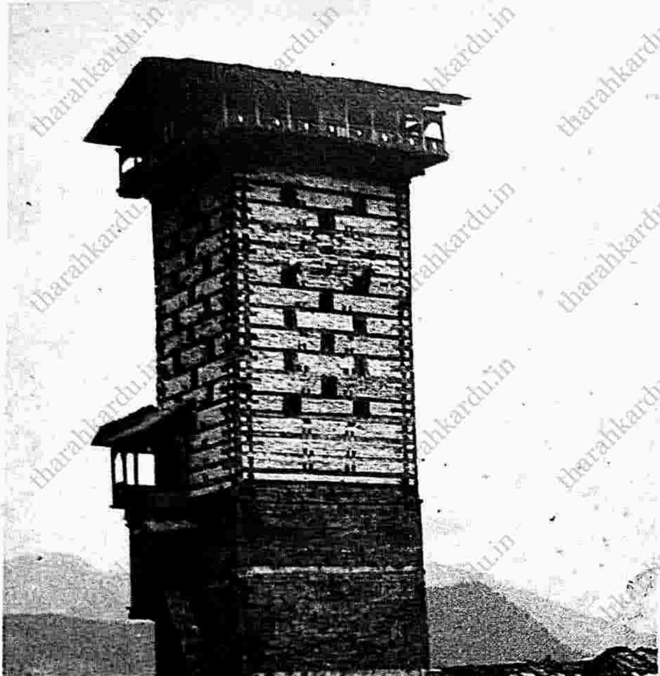

चेहणी कोठी, बंजार (कुल्लू) छाया : वीरबल शर्मा

निदेशक, भाषा एवं संस्कृति विभाग, हिमाचल प्रदेश, शिमला-171003 द्वारा प्रकाशित तथा शांति मुद्रणालय, गली नं. 11, विश्वासनगर दिल्ली-32 द्वारा मुद्रित